भूमिका

प्रस्तुत संग्रह की कई कहानियाँ बिल्कुल नयी हैं; कुछ पहले पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुकी हैं और एक कहानी पहले संग्रह में आ चुकी है। उसे यहाँ संकलित करने का कारण यह है कि अब वह पहले संग्रह से निकाल दी जायगी। इस कहानी का नाम बदल दिया गया है: अब जो नाम है यही आरम्भ में रखा गया था और उपयुक्त भी है किंतु अंग्रेजी से बचने के लिए छोड दिया गया था।

कहानियों के बारे में लेखक का वक्तव्य क्या हो सकता है? उपन्यास के बारे में तो फिर भी कुछ कहने की गुंजाइश होती है, क्योंकि उसमें जीवन का एक दर्शन होता है। कहानियों के सत्य में उतनी व्याप्ति नहीं होती; वह एक क्षण का, एक मनःस्थिति का सत्य है—एक दौडती लहर का गति चित्र। वह गति-चित्र आपको दीख जाय और देखने में आपका मन भी थोडी देर के लिए उलझा जाय, तो लेखक को और कुछ नही चाहिए।

यों कुल मिलाकर, जीवन के बारे में मेरे कुछ विचार अवश्य हैं, और मै यह भी चाहता हूँ कि वे आपको रुचें, क्योंकि जीवन से, जीने की भावना से, मुझे प्रेम है, और मे चाहता हू कि वह प्रेम आपका अनुमोदन और सम्मान पाये।

—'अज्ञेय'

शारदीया, १६४०

क्रम-सूची

यह साक्षी हो कि
पठार के तीतरों को
नाम पुकारते
मैंने भी सुना है

उसकी जुन्हाई पड गयी तो न जाने उनकी कौन-सी पोल खुल जायगी—अगर वह यह सब सुनता है, तो क्या उसका सुनना धोखा ही है, क्या वह भी वास्तविकता का नया स्तर नही है ? और क्या हमेशा ही हमारा जीवन एकाधिक स्तर पर नही चलता, हमारा अधिक तीव्रता के साथ जीना, क्या एक ही स्तर पर अधिक गति या विस्तार की अपेक्षा अधिक या नये स्तरो का हठात् जागा हुआ बोध ही नही है ? तीव्र जीवन के क्षण, नयी दृष्टि, नये बोध के क्षण, अनेक स्तरो पर जीवन के स्पन्दन की द्रुत अनुभूति—ये विरल ही होते है, जैसे कि तीसरा नेत्र कभी-कभी ही खुलता है ..

किशोर ने धीरे से कहा, "सुनती हो, यह पक्षी क्या पुकार रहा है ? वह कहता है, प्र-मीला, प्र-मीला !"

प्रमीला नि शब्द हँस दी।

"सच, तुम सुन कर देखो—वह देखो—प्र-मीला, प्र-मीला—"

प्रमीला ने मानो कान दे कर सुना। अब की वह जरा जोर से हँस दी हाँ, ठीक तो, अगर मान कर अनुकूलता से सुनें तो सचमुच तीतर उसी का नाम पुकार रहे है, 'प्रमीला, प्रमीला !'

उसने धीरे से किशोर का हाथ अपने हाथ में लेकर दबा दिया।

"और अभी जब चाँद निकलेगा, तब तुम देखना, वह जो धुँधली-सी मेहराब दीखती है न टूटी हुई, उसका आकार भी ठीक 'प्र' जैसा बन जायगा, मानो चाँदनी तुम्हारा नाम लिख रही हो।"

प्रमीला की आँखें चमक उठी। उसने कहा, "हाँ, और जब मोर पुकारेगा तो मै सुनूँगी, वह कह रहा है, 'किशोर, किशोर।' और जब चाँद निकलेगा और बादलो में रुपहली झालर लग जायगी—"

"हँसी करती हो ?"

"नही . हँसी क्यो करूँगी भला ? मै सच कह रही हूँ—ये जो दूर-दूर तक पलास के झुरमुट है, इनकी काँपती पत्तियाँ न जाने किसके-किसके नामो पर ताल देकर नाचती है, और वह कुंड के पानी

जब वह दोनो बाहे राजकुमारी की ओर फैलाता—"

"तुम नही मानते ? मैं कुँवर से ही पुछवा दूं ? अच्छा, ठहरो, वह आता ही होगा—देखो—"

किशोर ने देखा। एक बडी-सी छाया कुड के आर-पार पड रही थी—नीचे गोल-सी, मानो हाथी की पीठ, ऊपर सुघड, लम्बी और नोकदार, मानो टोपी पहने राजकुमार।

हाथी धीरे-धीरे पानी में बढ रहा था। जब गहरे मे उस की पीठ का पिछला हिस्सा पानी मे डूब गया, तब वह खडा हो कर पानी में सूंड हिलाने लगा। कुंवर ने एक बार नज़र चारो ओर दौडायी, राजकुमारी को न देख कर वह हाथी की पीठ पर खडा हो गया। दोनो हाथो को मुंह के आस-पास रख कर उसने दो बार मोर के पुकारने का-सा शब्द किया—"मैं-तू मैं-तू।" और फिर धीरे से पुकारा, "राजकुमारी! राजकुमारी हेमा!"

स्त्री-स्वर ने कहा, "मैं आ रही हूँ वहाँ . कुंवर के पास। लेकिन वह मुझे नही, अपनी छाया को प्यार करता था।"

गोरोचन की एक पुतली-सी कुड की सीढियाँ एक-एक कर के उतरने लगी। निचली सीढी पर पहुँच कर वह थोडी देर रुकी, देह पर ओढी हुई चादर उस ने उतारी और फिर एक पैर पानी की ओर बढाया। पानी में चाँदनी की लहरें-सी खेल गयी।

हाथी की पीठ पर खडे राजकुमार ने शरीर को साधा, फिर एक सुन्दर गोल रेखाकार बनाता हुआ पानी में कूद गया, क्षण भर मे तैर कर पार जा पहुँचा, दोनो साथ-साथ तैरने लगे।

"हेमा, तुम आज उदास क्यो हो ? तुम्हारा अग-चालन शिथिल क्यो है ?"

"नही तो। क्या मैं बराबर साथ-साथ नही तैर रही हूँ ?"

"हाँ, पर वह स्फूर्ति नही है—तुम जरूर उदास हो—"

"नही-नही, मै तो वहुत प्रसन्न हूँ। मेरी तो आज सगाई हो गयी है—"

"क्या? राजकुमारी हेमा—क्या कहती हो तुम? ठट्ठा मत करो—" कुँवर तैरता हुआ रुक गया।

हेमा ने रुक कर उसे भरपूर देखते हुए कहा, "हाँ, आज तिलक हो गया।"

"कौन—किस के साथ? तुम कैसे मान सकी?"

हेमा ने धीरे-धीरे कहा, "मै राजकुमारी हूँ। ऐसी वातो में राजकुमारियो की राय नही पूछी जाती। साधारण कन्याएँ राय देती होगी, पर हमारा जीवन राज्य के कल्याण के पीछे चलता है।"

"और हमारा कल्याण—"

"वह उसी में पाना होगा। अपना अलग हानि-लाभ सोचना क्षत्रिय-वृत्ति नही है, वैसा तो वनिये—"

"यह सव तुम्हे किस ने कहा है?"

"मेरी शिक्षा यही है—"

दोनो किनारे की ओर वढ रहे थे। कुँवर ने लपक कर सीढी को जा पकडा, और वाहर निकल कर उस पर जा वैठा। हेमा भी निकल कर पास खडी हो गयी। शरीर से चिपकते गीले कपडो के कारण वह और भी पुतली-सी दीख रही थी, गोरोचन का रग और चमक आया था।

दोनो देर तक चुप रहे। फिर कुँवर ने कहा, "तो—यह क्या विदा है?"

हेमा ने अचकचा कर कहा, "नही, नही!"

"सुनो हेमा, राजकुमारी, तुम—अभी मेरे साथ चलो। हाथी पर सवार होकर यहाँ से निकलेंगे, फिर घोडे लेकर—"

"कहाँ?"

"हाथ में वल्गा, पार्श्व में हेमा राजकुमारी—तो सारा देश खुला पडा है.. उधर कामरूप-मणिपुर तक, उधर विन्ध्य के

कुमारी तक, नहीं तो उत्तराखड के पहाडो—"

"और यहाँ पीछे—विग्रह और मार-काट, और लोहे की साँकलो म बँधे हुए बन्दी, और—"

"प्यार पीछे नही देखता, हेमा, उसकी दृष्टि आगे रहती है। मैं देखता हूँ वह सुन्दर भविष्य जिस मे हम दोनो—"

"मैं भी देखती हूँ, कुँवर, मगर वह भविष्य वर्तमान से कट कर नही, उसी का फूल है— जैसे बिना पत्ती के भी मधूक में नया बौर जैसे पलाश की फुनगी को चूमती हुई आग—"

"नही राजकुमारी, मैं सम्पूर्ण जलना चाहता हूँ। धू-धू कर के धधक उठना, बेबस, पागल, जैसे चैत्र में पलास का समूचा वन—"

"कुँवर!"

"कहो तुम मेरे साथ चलोगी—अभी—"

राजकुमारी चुप रही। फिर उसने धीरे-धीरे कहा, "सगाई तो हुई है, क्योकि नयी सन्धि भी हुई है। विवाह की तो अभी कोई बात नही है, क्योकि विवाह के बाद शायद सन्धि मे वह बल नही रहेगा—मैं उधर की जो हो जाऊँगी। इस प्रकार मैं देश की शान्ति की धरोहर हूँ इधर की कुमारी, उधर की वाग्दत्ता—मैं कैसे भाग जाऊँ?"

"तो क्या कहती हो?"

"कुछ नही कहती कुँवर। मैं रोज़ यहाँ आती हूँ, आती रहूँगी। तुम—तुम भी आते हो। यह कुड हमारा अपना राज्य है नही, राज्य नही, हमारा घर है जहाँ हम अपनी इच्छा के स्वामी हैं, धरती के दास नही। यही हम रहते रहेगे, चाँदनी और तारो-भरा अन्धकार हमे घेरे रहेगा—कुँवर, क्या तुम मुझे ऐसे ही नही प्यार कर सकते?"

"और भविष्य?"

"वह किसी का जाना नही है। और उतावली कर के उस को नष्ट करना—"

"धीरज! धीरज! हेमा, मैं तुम्हे चाँदनी की तरह नही चाहता

जो आवे और चली जावे, मैं तुम्हे—मैं तुम्हे—अपनी छाया की तरह चाहता हूँ, हर समय मेरे साथ, जब भी चाँदनी निकले तभी उभर कर मुझे घेर लेने वाली—"

"और जब चाँदनी न हो तब क्या अन्धकार मुझे लील लेगा—मैं खो जाऊँगी ?" राजकुमारी का शरीर सिहर उठा।

"तब तुम मुझी में बसी रहोगी, राजकुमारी !"

दूर कही पर चौंककर तीतर पुकार उठे। पहले एक, फिर दूसरी ओर से और एक। राजकुमारी ने सचेत होकर कहा, "अच्छा, कुँवर, मैं चली। कल फिर आऊँगी। तुम चिन्ता मत करना।"

कुँवर ने कहा, "राजकुमारी !" फिर कुछ भर्राये से स्वर में कहा—"हेमा !"

हेमा ने धीरे से कहा, "अपने चाँद को तुम्हे सौंप जाती हूँ। देवता तुम्हारी रक्षा करें, कुँवर—"

उसने जल्दी मे चादर ओढी और निःशब्द लचीली गति से सीढियाँ चढ चली।

कुँवर ने एक बार दक्षिण आकाश मे उभरे वृश्चिक को देखा, फिर झुक कर पानी में हो लिया और क्षण भर में हाथी की पीठ पर पहुँच गया। अँधेरे का एक पुंज-सा पानी मे से उठा और कुंड के छोर पर अँधेरे की एक बडी-सी कन्दरा में खो गया।

हेमा का स्वर फिर पास कही बोला, "समझे ?"

किशोर ने कहा, "राजकुमारी, तुम तो कहती हो वह प्यार नही करता ? वह तो—"

"कब कहती हूँ नहीं करता था ? पर मुझे नही, अपनी प्रलम्बित छाया को। तभी तो मुझे छोडकर चला गया—"

"चला गया ?"

"हाँ, दूसरे दिन वह नही आया। मैं देर रात तक कुंड पर बैठी रही। तीसरे दिन भी नहीं। फिर पता लगा, जहाँ मेरी सगाई हुई थी

वहाँ—वहाँ उसने आक्रमण कर दिया है एक अश्वारोही टुकडी के साथ—"

"फिर ?"

"फिर ! इतिहास बाँचना मेरा काम नही है, अपरिचित ! वह सब तुमने पढा होगा—कितने राज्य, कितने राजकुल विग्रहो मे घुल गये, इसका लेखा-जोखा रखना तो तुम्हारी शिक्षा का मुख्य अग है ! हम तो स्वय जीने वाले है, जीवन के प्रति समर्पित होकर, क्योकि जीवन का एक अपना तर्क है जो इतिहास के तर्क से—"

"पर कुँवर ? राजकुमारी, कुँवर का क्या हुआ ?"

"वह नही आया। दूसरे दिन नही, तीसरे दिन नही, सप्ताह नही, पखवाडे नही। महीने और वर्ष बीत गये। विग्रह फैला और फैलना ही गया। वह नही आया फिर। और—आज भी मै नही जानती कि मै—कि मै केवल वाग्दत्ता हूँ, कि विधवा, कि—कि केवल इस कुड की विवाहिता वधू, जिसकी लहरियो से खेलते मैने वर्ष बिता दिये।"

"पर यह तो कुछ समझ में नही आया। बात कुछ बनी नही।"

"बात का न बनना ही उसका सार है, अपरिचित ! प्यार मे अधैर्य होता है, तो वह प्रिय के आसपास एक छायाकृति गढ लेता है, और वह छाया ही इतनी उज्ज्वल होती है कि वही प्रेय हो जाती है, और भीतर की वास्तविकता—न जाने कब उसमें घुल जाती है, तब प्यार भी घुल जाता है। तुम मुझे देख रहे हो, क्योकि मेरे साथ तुम्हारा कोई रागात्मक सम्बन्ध नही है। मै—जैसे मै खँडहर की जमी हुई चाँदनी हूँ.. कुड की एक विजडित लहर हूँ। पर मुझे देखो, देर तक देखो, लालसा से देखो—तब देखोगे, मेरे आसपास कितनी घनी दुर्भेद्य छाया तुमने गढ ली है—क्यो भद्रे, तुम क्या कहती हो ?"

प्रमीला इस सम्बोधन से अचकचा गयी। उसने तनिक-सा किशोर की ओर हटते हुए कहा, "मै—मै—कुछ नही राजकुमारी, मै तो—"

राजकुमारी ईषत् स्मित भाव से बोली, "मै तो जो कहूँगी इस

पार्श्ववर्ती अपरिचित मे कहूँगी, यही न ?" फिर कुछ गम्भीर होकर, "लेकिन भद्रे, वही ठीक है। यह फैला पठार देखो—आकाश, आँधी, पानी, शीतातप, सब के प्रति यह समर्पित है, किसी के आसपास छायाएँ नही गढता, और सब की वास्तविकता देखता है। तुम तो जानती हो, तुम मेरी वहिन हो। तुन्हे कुछ कहना ही हो, ऐसा क्यो आवश्यक है ? यह पठार भी तो कुछ नही पूछता ! अपरिचित, क्या यह पठार वास्तव है, तुम्हे लगता है ?"

"हाँ, और नही। मै नही जानता। इस समय मै मानो इस से आत्मसात् हूँ, अलग उस को जोखने की दूरी मुझमे नही।"

"वह तो जानती हूँ। पठार से, कुड से, आत्मसात् न होते, तो क्या मुझे देखते ? मेरी वात सुनते ? क्योकि मै—"

"राजकुमारी, तुम कौन हो ? क्या तुम वास्तव नही हो ?"

"वास्तव !" राजकुमारी हँसी। तारे मानो कुछ और चमक उठे, और हवा कुछ तेज हो गयी। "वास्तव तो हूँ, शायद, जो कुछ है सभी वास्तव है। लेकिन वास्तविकता के स्तर है। धीरज हमें एक साथ ही अनेक स्तरो की चेतना देता है, अधैर्य एक प्रकार का चेतना का धुआँ है जिसमे वोध का एक-एक स्तर मिटता जाता है और अन्त में हमारी आँखें कड़ुवा जाती है, हमें कुछ दीखता नही—"

फिर वही तीतर वोले—'त-तीत्तिरि, त-तीत्तिरि !"

राजकुमारी ने कहा, "कभी इस पठार के तीतर और मोर दूसरे नाम पुकारा करते थे। मैने अपना नाम अनेक वार सुना था। पर अव—"उसने फिर मुस्करा कर अर्थ-भरी दृष्टि से दोनो को देखा, "अव कदाचित् वह और नाम पुकारते है—है न ?"

तीतर फिर वोले, 'त-तीत्तिरि त-तीत्तिरि।'

प्रमीला कुछ लजा गयी। किशोर ने अचम्भे में आकर कहा, "राजकुमारी, तुम कौन हो ?"

"मै कोई नही हूँ। मै पठार का धीरज हूँ। वह दृष्टि देता है।

लेकिन मैं चली—"

एक जोर का झोंका आया। कुंड पर अठखेलियाँ करती चाँदनी लहरा कर चक्कर खा कर मूर्छित हो गयी, अदृश्य टटीहरी उडता वृत्त बना चीख उठी, बादल का एक चिथडा चाँद का मुँह पोंछ गया, पलाश के झोंप सनसना उठे, कहीं गीदड भूँका, प्रमीला किशोर के और निकट सरक आयी, और उसे मग्न-सा देख कर बड़े हल्के स्पर्श से उसे छूकर स्वयं ठिठक गयी, किशोर ने अचकचाये निःशब्द स्वर से मानो कहा, "कौन—कहाँ—" और फिर सचेत होकर चारों ओर आँखे दौड़ायी।

कहीं कोई नहीं था, केवल पठार का सन्नाटा।

तीतर एक साथ जोर से पुकार उठे, 'त-तीत्तिरि, त-तीत्तिरि।'

किशोर और प्रमीला की आँखें मिलीं, स्थिर होकर मिलीं और मिली रह गयीं।

नहीं, यह बिल्कुल आवश्यक नहीं है कि तीतर किसी का भी नाम पुकारे। पठार की अपनी एक वास्तविकता है, उन की अपनी एक वास्तविकता है। दोनों समान्तर हैं, सहजीवी हैं, संयुक्त हैं, यह बिलकुल आवश्यक नहीं है कि वास्तविकता के अलग-अलग स्तर कहीं भी एक दूसरे को काटें। जो बोध स्वयं ही हो, चेतना स्वतः उभर कर, फैल कर जिस स्तर को भी छू आवे, आवे, चेतना स्वच्छन्द रहे, निर्धूम रहे, क्योंकि धीरज उन में है, उन में रहेगा—

किशोर ने हाथ बढ़ाकर प्रमीला के दोनों शीतल हाथ थाम लिये।

तीतर फिर बोला, 'त-तीत्तिरि!'

आँखों में बड़ी हल्की मुस्कान लिये दोनों ने एक दूसरे को सिर से पैर तक देखा।

और स्थिर धीरज-भरे विश्वास से जान लिया कि छाया किसी के आसपास नहीं है, दोनों वास्तव में सामने-सामने हैं, हैं।

तब चाँद गोरोचन के बहुत बड़े टीके-सा बड़ा हो आया।

साँप

अच्छाई-बुराई की बात मै नही जानता । कम-से-कम इतनी नही जानता कि सब के, और खास कर अपने, बारे में यह फैसला कर सकूं कि हम अच्छे है कि बुरे। लेकिन उस के बिना जी न सकें, चल न सकें, चाह न सके, ऐसा तो नही है ? उस के लिए जितना जरूरी है, उतना मै जानता हूँ कि वह अच्छी है। और यह भी जानता हूँ कि इस बात को जाने रहना, पकडे रहना जरूरी है कि वह अच्छी है।

सवेरे-सवेरे उस से मिलने गया था। यो तो अक्सर हम मिलते है, पर वह सवेरे-सवेरे का मिलन कुछ बहुत विशेष था। मै चौंक कर उठा था, तो एक तो जिस स्वप्न से उठा था, वह मेरे मन पर छाया था, दूसरे आँख खोलते ही सामने देखा, बगुलो की एक छोटी-सी डार आकाश में उडी जा रही थी। तो पहले तो मै इस मे उलझा, स्वप्न बहुत मीठा था, उस की मिठास बिगडने का डर नही था, बल्कि उलझने मे ही डर था, यो छोड देने मे वह और छायी जा रही थी इस लिए बगुलो की डार पर ही चित्त स्थिर किया। न जाने उस से क्यो एक हिलोर, एक ललक मन मे उठी। उसे मैंने कविता में बाँधना चाहा—कविता मुझ नही आती, छन्द बाँधने मे तो कसीदा काढना कम दुष्कर मालूम होता है, पर हाँ, आधुनिक ढग की, अनकहनी को अर्थ की बजाय ध्वनि से कहना चाहने वाली कविता से कुछ ढाढस बँधता है कि हाँ, यह तो हीरा-पन्ना-मोती जडा देव-मुकुट नही है, देसी पहरावा है, यह दुपल्ली शायद हम भी ओढ लें। तो मै ने कहना चाहा, "भाले की अनी-सी बनी, बगुलो की डार, फुटकियाँ छिटफुट, गोल बाँध डोलती, सिहरन उठती है एक देह में, कोई तो पवारा नही मेरे सूने गेह में, तुम फिर आ गये, क्वाँर ?" देह में, गेह में तो बाकायदा तुक बन गयी, और अन्त में क्वाँर की तुक जो दूर कही बगुलो की डार से मिल बैठी तो जैसे स्मृति मे कविता छा गयी, और कुछ पूरेपन का भाव आ गया—

मुझे अच्छा लगा। इतना अच्छा लगा कि फिर आगे नहीं सोचा, फिर स्वप्न ही स्वप्न था और मैं फिर उसी में डूब गया। स्वप्न-भरी आँखे लिये-लिये ही उस के पास पहुँचा, और उससे बोला, "घूमने चलोगी ? दूर-लम्बी सैर को—जगल में को चलोगी ?"

इतना तो खैर उसे जवाब का मौका देने से पहले कह ही गया। पर इतना ही नहीं। मन ही मन आगे और भी बहुत कुछ कह गया, जैसे बगुलो की डार देख कर मन-ही-मन क्वाँर से बतिया गया था, वह भी कविता में। मैंने कहा कि चलोगी, जगल मे को, जहाँ सन्नाटा है, एकान्त है, जहाँ सब अपनी-अपनी धुन मे ऐसे मस्त है कि मस्ती की एक नयी धुन बन गयी है जिसमे सब गूजते है—पर अलग-अलग, बिना एक दूसरे पर हावी हुए, जैसे शहर में होता है—शहर मे जहाँ तुम कुछ ही करो, दूसरो को बडी दिलचस्पी है, टाँग नही अडायेंगे तो शोर तो मचायेंगे, और नही तो राह चलते खँखारते हुए ही चले जायेंगे ! जगल में, मस्त, मनचले, निर्जन जगल में जहाँ बडा मीठा-मीठा धुधला अँधेरा है आसरा और ओट देने वाली घनी छाँह की बाँह है—उस जगल में चलोगी ? वहाँ जहाँ कोई न होगा, वहाँ—लेकिन इतना कह कर न जाने क्यो जबान रुक जाती थी ? मन ही रुक जाता था, भोर का देखा हुआ स्वप्न ही छा जाता था। स्वप्न मुझे याद था, बार-बार उभर कर याद आता था पर गूंगे की गुड की तरह—स्वप्न-भरी आँख से मैं अब भी देखता था कि उस में हम—

वह चल पडी मेरे साथ सैर को। वह अच्छी जो है। मैं जानता हूँ। मेरे साथ-साथ चलती जा रही थी, और साथ चलते-चलते मेरे जैसे दो मन हो गये थे। एक उमँग रहा था कि वह कितनी अच्छी है, कितनी अच्छी है और मेरे साथ है और दूसरा अभी स्वप्न की खुमारी मे ही था, मीठे स्वप्न कि जिसमें हम—

हम लोग जगल में पहुँच गये। पहले गीली-गीली, भारी-भारी, ओस से दूधिया घास—उस से भी मैंने चलते-चलते बात कर ली कि

स्वप्न था, स्वप्न जो पूरा था, जिस स्वप्न मे हम

तभी सामने नीचे कुछ तीखी सुरसुराहट हुई। हम ठिठक गये। सहसा वह बोली, "वह देखो सामने, साँप।"

मैंने भी देख लिया। घास के किनारे पर, मन्दिर के आस-पास की बजरी पर रेंगता हुआ, ललौंहे-भूरे रग का साँप था।

वह गोल-गोल आँखें कर के बोली, "कितना सुन्दर है साँप!"

उस की आँखें सचमुच बडी भोली थी। डर उन में बिलकुल नही था। केवल एक भोला विस्मय, एक मुग्ध भाव कि अरे, ऐसी सुन्दर चीज़ भी होती है, वह भी मिट्टी मे पडी हुई, अनदेखी, उपेक्षित!

मैंने भी देखा। सचमुच साँप सुन्दर होता है। निर्माता की एक बडी सफलता है, बडे कलाकार की प्रतिभा का एक करिश्मा—कही कोने नही, कही अनावश्यक रेखा नही, बाधा नही, भार नही, लहरीली, निरायास, लय-युक्त गति, बिजली-सी त्वरा-युक्त लेकिन बिजली की कौंध में भी कही नोकें होती है और साँप की गति निरा प्रवाह है सुन्दर, लचीला, ललौंहा-भूरा रग, झिलमिल चमकीली केंचुल, चित्तियाँ जो न मालूम केंचुल के ऊपर हैं कि भीतर, ऐसी काँच के भीतर मे झाँकती-सी जान पडती हैं

मैंने तो देख लिया। फिर मैं उसे देखने लगा, और वह साँप को देखती रही। हम दोनो जैसे मन्त्रमुग्ध थे, लेकिन एक ही मन्त्र से नही। वह साँप को देखती थी, मैं उसे देखता था। वह साँप के लयमय प्रवाह पर विस्मय कर रही थी, मैं उसके चेहरे की मानो क्षण भर के लिए थम गयी चंचल बिजलियों को देख रहा था और सोच रहा था, कोने एक दूसरे को काटते हैं, पर लहरीली गतिमान रेखाएँ काटती नहीं, झट से कौंध कर मिल जाती है, बिजली की कौंध ना है हो लय होने के लिए, लहर को देखो और खो जाओ, डूब जाओ, लय हो जाओ। उस की आँखें साँप पर टिक कर मुग्ध थीं। मेरी आँखों मे

निरीह! स्वप्न मे मैने देखा था वह और मै—हम—लेकिन स्वप्न की उलझन जैसे सुलझ गयी, मेरी दोहरी दीठ इकहरी हो गयी और मैंने देखा, मै अलग यहाँ, वह अलग वहाँ, बडी सुन्दर, बडी अच्छी, मेरे साथ जगल में अकेली, लेकिन अलग वहाँ। और हम दोनो खडे उस सुन्दर चित्तीदार, ललौहे-भूरे, लचीली लहर-से बलखाते साँप को देखते रहे। मै भी, वह भी। चाहे मै साँप को जितना देख रहा था उस से अधिक उसी को देख रहा था। साँप तो मन्दिर की भीत से सटा खडा था, और वह मुझ से सटी खडी थी।

फिर मैने कहा, "चलो आगे चले।"

हम लोग चल पडे। पर असल मे आगे हम नही चले, हम लौट आये। वह बीहड मे का मन्दिर वही खडा रह गया। तान्त्रिक वहाँ कभी अपनी औघड पूजा किया करते होगे, किया करे। उन्होने वैसा सुन्दर साँप कभी थोडे ही देखा होगा—कम से कम उतना असहाय और वेध्य? यो तो मैने भी कभी नही देखा, स्वप्न में भी नही, यद्यपि सपने मैने एक से एक सुन्दर देखे हैं, जिन्हे मै कह भी नही सकता। और किसी को तो क्या, उसको भी नही, जो मै जानता हूँ कि इतनी अच्छी है, चाहे मै अच्छा होऊँ या बुरा।

आदम की डायरी

मैं क्यों और कैसे बना ?

'बनना' क्या होता है, मैं जानता हूँ। क्योंकि यवा ने और मैंने मिल कर इस सुन्दर उद्यान की मिट्टी में कई बार टीले बनाकर ढहा दिये हैं, कई बार अपने पैरों के ऊपर गीली मिट्टी जमा कर पैर खींच कर वैसी ही खोह बनायी है जैसी में हम रहते हैं यह भी मैं जानता हूँ कि जैसे पैर ढँक लेने से और हाथ छिपा लेने से भी उन की बनाई हुई खोह बनी ही रहती है, उसी तरह जिन चीजों का बनाने वाला नहीं दीखता, उनका भी कोई बनाने वाला होता अवश्य है। खोह के भीतर पैर के आकार का खोखल देख कर हम उस पैर की कल्पना कर सकते हैं जिस पर वह कन्दरा टिकी थी, बाहर से कन्दरा की दीवार पर उँगलियों की छाप देख कर हाथ का अनुमान कर लेते हैं इसी तरह यदि हम इस उद्यान के रंग-बिरंगे, सूखे-गीले, चल-अचल विस्तार से परे देख सकते, तो शायद इन के भीतर भी हमें किसी के पैर के आकार की प्रतिकृति दिख पड़ती, इन पर भी किसी के हाथों की छाप पहचानी जा सकती हम छोटे हैं, बनाने वाला बड़ा होगा, हो सकता है कि जैसे इस उद्यान की मिट्टी पर बड़ी लम्बी लकीर बना सकता हूँ उसी तरह बनाने वाला वैसे तो छोटा हो पर बड़ाई को भी घेर सकने की, मिटा और फिर बना और आड़ा-तिरछा बना सकने की भी सामर्थ्य रखता हो

तो मुझे कैसे, किस ने, क्यों बनाया ? समझ में नहीं आता। वह कोने के पेड़ में पड़ा हुआ साँप अपनी गुंजलक खोल कर और जीभ लपलपा कर कहता था—पर साँप की बात मुझे बुरी लगती है वह जब इधर-उधर पलोटता हुआ सरकता है और मिट्टी पर सूखे नाले-सी लकीर डालता चलता है, तब मेरे रोएँ न जाने क्यों खड़े हो जाते हैं। साँप को देखता हूँ, तो दिन-भर अनमना-सा रहता हूँ, यवा पूछ-पूछ कर तंग कर

देती है कि क्यो ? पर मेरा दिन अच्छा नही बीतता साँप अनिष्ट है

❀ ❀ ❀

क्यो उस ने मेरे मन को ठीक वैसे ही घेर कर बांध लिया है जैसे वह उस फल देने वाले पेड को अपनी गुंजलक में कसे रहता है ? क्यो मेरा मन या तो सोच ही नही सकता, या साँप के दबाव के अनुसार ही सोच सकता है ?

वह मुझे देखकर हँसता है। उसकी हँसी मे कुछ ऐसा होता है, जो काँटे की तरह सालता है। वह बताना चाहता है कि वह मुझ से अधिक जानता है, मुझ से अधिक समर्थ है मुझ से अधिक पराक्रमी है। किन्तु मै तो यवा को देख कर यवा को दर्द पहुँचाने के लिए कभी नही हँसा हूँ ? यवा भी तो बहुत-सी बाते नही जानती जो मै जानता हूं, यवा से भी तो बहुत से काम नही होते जो मै कर सकता हूँ।

यवा मेरे साथ रहती है। यवा मेरी है। मैं उस के लिए फल लाता हूँ, मै उस के लिए फूल तोड कर बिछाता हूँ। मै अपने मुँह में पानी लेकर एक-एक घूंट उस के मुँह मे छोडता हूँ। मुझे इस में सुख मिलता है कि जो काम मै करता हूँ वे सब के सब यवा न कर सकती हो। मुझे इस में भी सुख मिलता है कि जो काम वह कर भी सकती है, वे भी मेरी मदद के बिना न करे। यवा मेरी है।

साँप तो मेरा कोई नही है ? उस का दिया हुआ तो मैं कुछ लेता नही ? एक फल दिखा कर कभी वह बुलाया करता है, कभी डराया करता है, कभी तिरस्कार से हँसता है, पर मैने तो वह फल कभी चाहा नही है, मैने तो उस की ओर देखा भी नही है, मैने साँप की बुलाहट की अनसुनी ही सदा की है, तब वह क्यो हँसता है ?

मै साँप का नही हूँ, क्या इसी लिए वह हँसता है ? यदि मैं भी उस का होता, जैसे यवा मेरी है, तब क्या वह भी मेरी कमजोरी में सुख पाता, क्या वह भी अपनी लपलपाती हुई जीभ से चाटा हुआ पानी

मुझे पर उह ! मैं नहीं चाहता वह !

लेकिन साँप हँसता था और कहता था, मैं उसका हूँ। कहता था, जब तुम बने भी नहीं थे, तब से तुम मेरे ही थे, जब तुम नहीं रहोगे, तब भी तुम मेरे ही रहोगे। मेरी गुंजलक तुम को घेरने वाली लकीर है। उस के बाहर कहीं भी तुम नहीं जाओगे, कहीं भी नहीं रह पाओगे।

मैं उसका हूँगा, जिस ने मुझे बनाया है और यह सब कुछ बनाया है। पर वह कौन है, मैं कैसे जानूँ

❀ ❀ ❀

वह साँप तो कुछ भी नहीं मानता। उसकी हँसी एक भीषण अवमानना की हँसी है। उसमें विश्वास नहीं है वह कहता है मैं सब कुछ जानता हूँ, क्या जानना ही विश्वास छोडना है और क्या विश्वास छोडने से ही बडा और समर्थ बना जाता है?

उस की किसी बात मे विश्वास नहीं है। पर जब वह बात कहता है तो लगने लगता है, इस बात में विश्वास किया जा सकता है.

❀ ❀ ❀

जब मे मैंने साँप का इशारा मान कर उसकी बतायी हुई दिशा मे देखा है, तब से मेरा तन अभी तक थर-थर काँपता ही जा रहा है.

उसने कहा था, "तुम कहते हो, यवा मेरी है, इस लिए हम दोनो एक हैं। पर जो चीजें एक जैसी नहीं है, एक तरह नहीं बनी है, वह एक कैसे है? तुम धोखे में हो, धोखे में।"

मैंने उस की बात नहीं सुनी थी। मैंने जवाब भी नहीं दिया था। मन ही मे सोचा था, यह झूठ है। हम दोनो एक है, क्योंकि इतने बडे उद्यान में एक यवा ही थी जिस को देख कर मैंने जाना था कि यह मेरे जैसी है, और जो सहसा ही मेरे पास आकर आयी ही रह गयी थी, भोजन खोजने भी नहीं गयी थी, जिस के लिए मुझे स्वयं ही भोजन लाने को और बैठने को जगह बनाने की इच्छा हुई थी. हम दोनो मे कुछ भी भेद नहीं है, हम दोनो एक ही है, उद्यान में हमी दोनो है जो एक

दूसरे को जानते है • सांप भूठा है ।

पर वह ठठा कर हँस पडा था और बोला था, "तुम यवा को नही जानते, नही जानते। तुम अपने को भी नही जानते। तुम नगे हो, नगे !"

वह शायद मेरा मौन तुडवाना चाहता था, तभी तो जब मैंने उस की बात न समझ कर पूछा था, "नगा क्या होता है ?" तब वह ठठा कर हँस पडा था और बोला था, "नगे हो तुम ! नगी है यवा ! तुम दोनो नगे हो, तुम अलग हो, तुम दो हो !"

मैं तब भी नही समझा था, किन्तु तभी मे न जाने क्यो मेरे शरीर में कँपकँपी शुरू हो गयी थी। और यवा को अपने पास मे आया देख कर मैं आश्वस्त नही हुआ था, और उसकी तरफ देख कर जैसे सहसा मुझे लगा था, क्या यवा सचमुच और है ? अपनी देह देख कर तो मुझे ऐसा कुतूहल नही होता जैसा यवा की देह को देख कर होता है, तब क्या सचमुच वह देह मेरी देह से और है !

यवा ने कुछ समझ कर मेरा कन्धा पकड लिया था, और जैसे मेरे रोंगटे और भी कांप कर खड हो गये थे और सांप ने फिर हंस कर कहा था, "यवा कहती थी, सब कुछ एक ही किसी ने बनाया है। तब तो सब कुछ एक है, है न ? तब हमें सर्वत्र एकता दीखनी चाहिए। पर देखो, तुम्हारे शरीर और और हैं—वे तुम्हारे बनाने वाले की एकता को झूठा बताते हैं ! जाओ उसे छिपाओ—और उसे, और उसे, और उसे !"

और उस की पलकहीन आँखें और लपलपाती दुहरी जीभ जैसे हमारी देहों को जगह-जगह छेदने लगी

मैंने अपने ही कम्पन पर क्रुद्ध हो कर कहा, "यवा ने तुम से कहा, यवा ने ? तुम झूठे हो, यवा तुम्हारी ओर देखती भी नहीं !"

सांप कुछ शान्त होकर बोला, 'क्या कहा ?' और जैसे हमें भूल कर चक्कर पर चक्कर देता हुआ उस पेड पर लिपटने लगा। पर हा

समूचे पेड को लील लिया था—तना शाखा-प्रशाखाएँ, टहनी-फुनगी सब छिप गयी थी—और स्वयं साँप भी गुजलक के भीतर कहीं सिर छिपा कर सोया था—जैसे वहाँ न साँप था न पेड, केवल एक गुँथी हुई विराट् गुजलक—

और हाँ, उस गुजलक के ऊपर, जैसे उसी से निर्भर, एक अकेला पका हुआ लाल फल

यवा ने ज़ोर से मुझे पकड लिया। मैंने एक हाथ से उसे सँभालते हुए जाना, वह काँप रही है, और उसके भीतर कुछ बडे जोर से धक् धक् कर रहा है।

मैंने हौसला दिलाने को कहा, "क्यों यवा, क्या है ?"

उत्तर में वह और भी जोर से मेरे साथ चिपट गयी। मैंने फिर पूछा, "यवा, यवा, डरती हो ?"

उसने और भी चिपट कर कान के पास मुँह रख कर धीरे से कहा, "साँप सोया है।"

मैं बोला, "तो फिर ?"

यवा फिर चुप हो गयी, मैंने देखा वह मेरे साथ अधिकाधिक लिपटती जा रही है, और उस के भीतर धक्-धक् द्रुततर होती जा कर जैसे मुझे भी भर रही है मेरे रोएँ फिर खडे होने लगे, पर डर से नहीं, डर से कदापि नहीं—किस से, यह मैं नहीं जानता।

मैंने कहा, "कहो यवा, क्या है ?"

वह फिर चुप रही। मैंने फिर उसकी काँपती देह-लता, सकुची हुई मुद्रा और लाल होते चेहरे को देखते हुए, दूसरा हाथ उस के माथे पर रखते हुए पूछा, "मेरी बीर बहूटी, बता, क्या चाहती है ?"

उस ने एक बार बडे जोर से धक् से हो कर कहा, "वह फल मुझे ला दोगे ?" और मुँह छिपा लिया।

मुझे नहीं समझ आया कि क्या कहूँ। न जाने कैसे मैंने एक हाथ से यवा को पकडे ही पकडे दूसरा हाथ बढा कर वह फल तोड लिया—

मैंने फिर कहा, "यवा उस समय तुम ने मुझे क्या कर दिया था कैसे कँपा दिया था—"

यवा ने जैसे नही सुना। उसकी आँखे खुली थी, पर वैसी ही दू की कुछ बात देख रही थी, जैसी कभी-कभी काली रात के अन्धेरे सोते-सोते दीखा करती है

मैंने फिर पूछा, "यवा, क्या देख रही हो ?" वह धीरे-धीरे बोली "मैं सोच रही थी, साँप की गुजलक मे बँधे हुए पेड को कैसा लगता होगा अगर वैसी गुजलक मुझ पर लिपट जाय, मैं सारी जकडी जाऊँ तो कैसा लगे ?" वह तनिक सा काँप गयी, फिर बोली, "अच्छा बताओ तो, अगर तुम उसी तरह बाँहो मे मुझे बाँध कर छा लो और मेरे हा पकड कर उनमें मुँह छिपा लो, तो कैसा लगे, बताओ तो ?" और काँपती-सी झूठ-मूठ की-सी हँसी हँस दी, मैंने सहम कर कहा, "दुर!"

और वह हाथ और बाँहो मे मुँह और छाती ढँक कर, सिमट क मेरी ही आड मे हो ली और मेरी जाँघ पर अपने लम्बे बाल फैला सो गयी।

और वह सोयी है। दिन लाल हो रहा है। शीघ्र ही वह पा पड जायगा, रात आ जायगी, सब कुछ छिप जायगा, हम भी छि जायेंगे। दो नही रहेंगे, अलग नही रहेंगे, बिना आड के भी अलग न रहेंगे—मैं यवा के पास आऊँगा, बहुत पास, बहुत पास, बहुत पास, इत एक और वहाँ कुछ नही होगा, साँप भी नही होगा, बनाने वा भी नही होगा, हम भी इस मरुभूमि मे होंगे और हम एक होंगे

[२]

यह क्या हो गया है ?

उस समय साँप नही देख रहा था, वह साँप जो सब कुछ जान था, तब जो साँप था और हमारा बनाने वाला है वह भी नही देख र होगा, और अँधेरे मे हम भी एक दूसरे को नही देख सकते थे, यवा और मै बीच के भेद को नही देख सकते थे, सब छिपा, हम छिपे थे।

आधी उठ कर भर्राये से स्वर मे कहा, "कैसा लगता है, आदम, बनाओ तो ?"

मेरे मन में हुआ, यवा, इस मरुभूमि में न वनस्पति है न साँप है न फल, शायद इन सब का बनानें वाला इस मरुभूमि में नही है, यहाँ है केवल तुम और मै और हमारा अकेलापन—और मैने विवश-भाव मे यवा को पास खीच कर घेरते हुए कहा, "तुम्ही जानो, यवा, कैसा लगेगा, मै तुम्हे बाँधे लेता हूँ इस गुजलक में—"और यवा ने जैसे बिजली की तरह कौंध कर सिमटते-सिमटते कहा, "हाँ बाँध लो मुझे, छा लो, पेड की एक फुनगी तक न दीखे, केवल फल, केवल फल "

और तब मेरे भीतर धक्-धक् करने वाला वह 'कुछ' चीत्कार कर उठा, क्यो मै दयनीय हूँ, क्यो मै छोटा हूँ, क्यो मै अकेला हूँ इस मरुभूमि में और कोई नही है, मै ही गुजलक, हूँ मै ही साँप हूँ, मै ही फल हूँ और क्यो नही हूँ मै ही वह बनाने वाला हूँ जिस का नाम हम नही जानते—मैं !

और यवा के भीतर का धक्-धक् ताल देता हुआ बोला—"और मै !" और एक लहर-सी मेरे ऊपर आयी, डुबा देने वाली, घोंट देने वाली, तहस-नहस करने वाली, यह आकाश का जलता हुआ लाल फल और अन्य अनगिनत फल—जो कुछ मै देखता और जानता हूँ सब कुछ जैसे मुझे रौंदता हुआ और सींचता हुआ चला गया और यवा को [illegible]ने-छिपाये हुए मुझे लगा कि मै ही बनाने वाला हूँ—

और तब—

नही, यवा, नही ! हम नगे है ! नगे है ! और मैंने सहसा [illegible]ट कर अपना मुँह जमीन मे छिपा लिया, जी होने लगा कि समूची [illegible] [illegible]मी मे धँस जाय । और यवा भी मुँह फेर कर धीरे-धीरे रोने लगी

[३]

यह जो मेरे भीतर और यवा के भीतर निरन्तर धक्-धक् किया [illegible] है, क्या यही उस बनाने वाले के पैर की प्रतिध्वनि वह [illegible]

आयी उठ कर भर्राये से स्वर में कहा, "कैसा लगता है, आदम, बनाओ तो ?"

मेरे मन में हुआ, यवा, इस मरुभूमि में न वनस्पति है न सांप है न फल, शायद इन सब का बनाने वाला इस मरुभूमि में नही है, यहाँ है केवल तुम और मै और हमारा अकेलापन—और मैंने विवश-भाव से यवा को पास खींच कर घेरते हुए कहा, "तुम्ही जानो, यवा, कैसा लगेगा, मै तुम्हे बांधे लेता हूँ इस गुजलक में—"और यवा ने जैसे बिजली की तरह कौंध कर सिमटते-सिमटते कहा, "हाँ बांध लो मुझे, छा लो, पेड की एक फुनगी तक न दीखे, केवल फल, केवल फल "

और तब मेरे भीतर धक्-धक् करने वाला वह 'कुछ' चीत्कार कर उठा, क्यो मै दयनीय हूँ, क्यो मै छोटा हूँ, क्यो मै अकेला हूँ इस मरुभूमि में और कोई नही है, मै ही गुजलक, हूँ मै ही सांप हूँ, मै ही फल हूँ .और क्यो नही हूँ मै ही वह बनाने वाला हूँ जिस का नाम हम नही जानते—मै !

और यवा के भीतर का धक्-धक् ताल देता हुआ बोला—"और मै!" और एक लहर-सी मेरे ऊपर आयी,डुबा देने वाली, घोंट देने वाली, तहस-नहस करने वाली, यह आकाश का जलता हुआ लाल फल और अन्य अनगिनत फल—जो कुछ मै देखता और जानता हूँ सब कुछ जैसे मुझे रौंदता हुआ और सींचता हुआ चला गया और यवा को बांधे-छिपाये हुए मुझे लगा कि मै ही बनाने वाला हूँ—

और तब—

नही, यवा, नही ! हम नगे है ! नगे है ! और मैंने सहसा परे हट कर अपना मुंह जमीन में छिपा लिया, जी होने लगा कि समूची देह उसी में धँस जाय। और यवा भी मुंह फेर कर धीरे-धीरे रोने लगी

[३]

यह जो मेरे भीतर और यवा के भीतर निरन्तर धक्-धक् किया करता है, क्या यही उस बनाने वाले के पैर की प्रतिकृति वह खोखल

सुहाता, और यवा में भी जैसे उस का उतना आग्रह नहीं है। अब मुझे यही अच्छा लगता है कि यवा के आसपास कहीं निकट ही रहूँ, भूख होने के समय यवा को लेकर घूमने के बजाय वहीं पर खाने को फल-फूल ले आऊँ, यवा के लिए एक बडी-सी कन्दरा बना दूँ और उसके आसपास फल के पौधे लगा दूँ जिस से दूर जाना ही न पडे "

और यवा भी मानो यही चाहती है, जैसे कन्दरा के बनने में उस का मुझ से भी अधिक आग्रह है—वह उस के भीतर बैठ कर दिन में रात के सपने देखना चाहती है

वही तो शायद सर्दी की धुन्ध की तरह उस की आँखो में छाया और जाया करते है, जमा और घुला करते है पर क्या चीज़ है वह जिस की माँग उस धुन्ध के पीछे यवा की आँखो में झलक जाया करती है, कौन है वह मेरे अतिरिक्त जिसकी चाह यवा करती जान पडती है

अक्सर बादल छाये रहते है, कभी कभी-पानी भी बरसा करता है। यवा अनमनी-सी कन्दरा में पडी रहती है, और मैं अनमना-सा आकाश की ओर देखा करता हूँ। कभी बादल घने होकर काले पड जाते है, कभी छितराकर उजले हो जाते है, और थोडी-सी धूप भी चमक जाती है। समझ नही आता कि मेरे इस अपने दो जनो के उद्यान पर क्या बदली छा गयी है जो हम ऐसे हो गये है। यवा मुझे अब भी उतनी ही अच्छी और अपनी लगती है, वह भी शान्त विश्वास से आकर मेरे द्वारा सहलाये जाने के लिए अपनी ग्रीवा झुका कर बैठ जाया करती है, फिर भी जैसे उस की आँखो की उस धुन्ध में अस्पष्ट-सा दीख पडने वाला आकार हर समय हमारे बीच में बना रहता है

और कभी यवा एकाएक थकी और खिन्न हो जाती है, कभी उस का जी कैसा होने लगता है, कभी उस के पीडा होने लगती है मुझे समझ नही आता कि मैं कैसे क्या करूँ कि वह फिर पहले जैसी हो जाय मुझे कुछ भी समझ नही आता, कुछ भी अच्छा नही लगता

* * *

मैं समझा नही, लेकिन एकाएक मैं जान गया, सांप झूठा है, झूठा है, झूठा है, मेरे भीतर धक्-धक् करने वाली शक्ति ही सच है, बनाने वाली है, और एकाएक मैं इस सब कुछ के बनाने वाले का नाम भी जान गया जो सांप कहता था कोई जान ही नही सकता क्योंकि वह है नही—सृष्टा ! मैंने जान लिया है कि मैं ही सृष्टा हूँ और मैंने पुकार कर कहा, "यवा, ठहरो, मैं जान गया हूँ कि सृष्टा को छिपा कर ही जिया जा सकता है, सब से छिप कर ही उस से मिलना सम्भव है"

मैं एकाएक बाहर दौड गया, अँधेरे में ही मैंने सेमल का पेड खोज कर उस के ढेर-से फूल तोड कर एक लता की छाल में गूंथ कर बांध लिये, लौटकर वह आवरण यवा के और उस की छाती पर चिपट कर पडे हुए मेरे प्रतिरूप एक अत्यन्त छोटे से आदम के ऊपर ओढा दिया।

यवा ने सिहर कर कहा, "हाँ, मेरे आदम, इसी तरह गुजलक से मुझे बांध दो, छा लो समूचे पेड को, कि कुछ भी न दीखे—एक फुनगी तक नही। केवल फल—केवल फल"

और छाती मे मेरी सृष्टि को चिपटाये हुए और सब तरफ से आवृत यवा की हँसी से चमक गये दांत देख कर मैंने सदा के लिए जान लिया कि सांप झूठा है, कि सृष्टा है, कि एकता है

फूल काचनार के।"

तब बाँसुरी का तीखा स्वर द्रुत लय पर दौडता हुआ आता है और तुरन्त ही खो जाता है।

स्त्री "अरे कौन ?"

पहला वसन्त "मैं वसन्त।" फिर बाँसुरी का स्वर।

स्त्री "कौन वसन्त ?"

वसन्त १ "यह भी वताना होगा ? सुनो "

फिर द्रुत लय पर बाँसुरी जिस से प्राण ललक उठे, लेकिन सुनते-सुनते उस का स्वर खो जाता है।

वसन्त १ "सुना ? अब पहचानती हो ?"

स्त्री "अम्-म्-म् "

वसन्त १ "मैं वह हूँ जो मलय समीर के हर झोंके मे आ कर तुम्हारी अलको को सहला जाता है। सरसो के फूल में मेरा ही रंग खिलता है, आम्र-मजरी मे मेरा ही आह्लाद उमँगता है। मैं कोयल के स्वर मे तुम्हें—तुम्हे क्यो, प्राणिमात्र को—पुकारता हूँ कि देखो, अब समय वदल गया। दिन भी अपनी निरन्तर सिकुडन छोडकर साहसपूर्वक वढने लगा। जिस सूर्य से जीवमात्र और सब वनस्पतियाँ शक्ति पाती हैं, वह स्वय इतने दिनो की निस्तेज क्लान्ति के वाद फिर दीप्त होने लगा। केवल वाहर ही नही, तुम्हारे शरीर की शिरा-शिरा में, तुम्हारे अगो के स्फुरण में, तुम्हारे मन के उत्साह मे मेरा स्वर वोलता है "

फिर वही वाँसुरी का स्वर, मानो निहोरे करता हुआ, वैसी ही पहले वसन्त की आवाज, मानो उस की मनुहार सुननी ही पडेगी, उस से कोई वच कर निकल जायगा तो कैसे। धीरे-धीरे, प्राणो को आविष्ट करता हुआ सा, वह गाता है

"सुनो सखी, सुनो बन्धु !
प्यार ही में यौवन है, यौवन म प्यार।
जागो, जागो,

द्रुत लय पर बाँसुरी और विलम्बित पर इसराज बारी-बारी मे बजने लगते है। एक स्वर उभरता है और डूबता है, फिर दूसरा उभरता है और पहला डूब जाता है। ये स्वर है, या कि भावो की धूप-छाँह ही स्त्री के मुँह पर खेल कर रही है?

वसन्त १ "मै तुम्हारे जीवन का स्वप्न हूँ। मै तुम्हारा भविष्य, भविष्य की आशा हूँ।"

वसन्त २ "मै भी तुम्हारे जीवन का स्वप्न हूँ। मै तुम्हारा अतीत हूँ और अतीत का अनुभव। क्या आने वाले कल की आशा ही स्वप्न होती है, क्या जो आशाएँ बीत गयी है वे स्वप्न नही है?"

वसन्त १ "मै वह हूँ जो तुम हो सकती थी—"

वसन्त २ "मै वह हूँ जो तुम हो।"

वसन्त १ "मैं वह हूँ जो तुम हो सकती हो "

वसन्त २ "थी भी, और होगी भी, तो फिर आज क्यो नही हो? (तिरस्कारपूर्वक) 'सुनो सखी, सुनो बन्धु!' अगर बहरा होना ही सुनना है, तो जरूर सुनो!"

फिर इसराज और बाँसुरी, विलम्बित और द्रुत, कौन पहचाने कि कौन स्वर उभरता है और कौन डूबता, क्योकि फीकी धूप ही हल्की छाँह है, और फीकी छाँह ही नयी चमक, और धीरे-धीरे दोनो ही लीन हो जाते है, मानो अस्तित्व के उस तल पर से अब उतर आना होगा जिस पर वसन्त—पहला और दूसरा वसन्त—मूर्त्त होकर, वाणी-युक्त होकर सामने आते है। इस निचले स्तर पर तो वसन्तो के सगीत-मय सुर नही, बरतनो की खनखनाहट है . नये मँजते और धुलते हुए बरतन, धो कर ताक में रखे जाते हुए बरतन। यह दूसरा ही दृश्य है, ।र स्त्री की बात मानो स्वगत भाषण है।

स्त्री "मै वह हूँ जो तू है। मै वह हूँ जो तू हो सकती है—मै वह हूँ जो तू थी। मै वह हूँ जो तू होगी—लेकिन मै क्या थी—क्या हूँगी. क्या हूँ? शायद उसे नही सोचना चाहिये। नही तो इतने वर्षों से इसी

स्त्री (महानुभूति से तिलमिला कर) "रहने भी दो, मुझे क्या करना है छुट्टी ? थकते तो मर्द है, स्त्री कभी नही थकती है। काम और विश्राम—यह मर्द की ईजाद है। स्त्रियाँ विश्राम नही करती, क्योंकि वे शायद काम नही करती। वे कुछ करती ही नही वे शायद सिर्फ होती ही हैं। बालिका से किशोरी, कुमारी से पत्नी, बेटी से माँ, एक निम्मग आत्मा से परिगृहीत कुनबा—वे निरन्तर कुछ-न-कुछ होती ही चलती है। क्योंकि वे है कुछ नही, वे केवल होते चलने का, बनने में नष्ट होते चलने का, या कि कह लो नष्ट होते रहने में बनने का, दूसरा नाम है। वे भविष्य है जो कि पीछे छुट गया, एक अतीत है जो कि आगे मुंह बाये बैठा है "

पति (कुछ त्रस्त स्वर में) "मालती, क्या तुम सुखी नही हो ? (पीडित-सा) लेकिन शायद मेरा यह पूछना भी अन्याय है। मैं तुम्हे कुछ दे ही तो नही सका। यह तो नही कि मैंने चाहा नही । लेकिन चाहना ही तो काफी नही है, सकत भी तो चाहिए। (सहसा नये विचार के उत्साह से) चलो, कही घूम आयें—या चलो सिनेमा चलें—"

स्त्री "उहुक्। सिनेमा में मेरा दम घुटता है।"

पति : "तो चलो, कही बाग में चलगे। या बाहर खेतो की तरफ। आजकल नदी की कछार पर सरसो खूब फूल रही है। बीच-बीच में कही अलसी के नीले फूल—"

नेपथ्य में कही धीरे-धीरे वही बाँसुरी बजने लगती है। मानो स्मृति को जगाती हुई, मानो पुरानी बात दुहराती हुई।

स्त्री (मानो स्वगत) "वह कहता था, सरसो के फूल में मेरा ही रग खिलता है। और आम के बौर मे "

पति "क्या गुनगुना रही हो, मालती ? तुम्हे याद है, उस बार जब मैं "

स्त्री "कब ?"

पति "बनो मत। उस बार जब गौने के बाद तुम आयी ही थी,

वालक "नही माँ, मुझे तो तुम वहुत अच्छी लगती हो। मुझे नही चाहिए पतग-वतग, मै तुम्हारे पास वैठूंगा—"

स्त्री "अरे, छोड मुझे दगा न कर। जा, पिताजी के साथ जाकर वगीचा देख आ।"

वालक "वहाँ क्या है ?"

स्त्री (जैसे याद करती हुई) "है क्या ? वहाँ सुन्दर फूल हँसते हैं वहाँ कोयल कूकती है वही तो वसन्त है।"

वालक (मान-भरा) हमें नहीं चाहिए वहाँ का वसन्त। हमारा वसन्त तो तुम हो, माँ तुम हँसती क्यो नही ? अरे, तुम तो उदास हो गयी "

स्त्री (सोचती हुई) "यह तो उन दोनो ने नही कहा था वह कहता था मै आशा हूँ, वसन्त मै हूँ। वह कहता था, मै अनुभव हूँ, वसन्त मैं हूँ। मुझे तो किसी नही कहा कि वसन्त तुम हो फूलो का खिलना भी और पतझड भी, समीर भी और धूल का झक्कड भी "

वालक "माँ—किसने कहा था, माँ ?"

स्त्री "किसी ने नही, वेटा, मेरी चेतना ने। तू तो केवल पतग का वसन्त जानता है, मगर मुझ में वहुत से वसन्त है, कुछ मीठे, कुछ फीके, कुछ हँसने, कुछ उदास।"

वालक "उन सव में सव से अच्छा कौन सा है, माँ ?"

स्त्री (सहमा सुस्थ होकर) "सव से अच्छा वसन्त तू है, वेटा। तू हँसता रह, वस, फूल-फल "

और अव नेपथ्य मे वाँसुरी क्रमश स्पप्ट होने लगती है। मानो अव वह स्पष्ट हो जायगी तो फिर मन्द नही पडेगी, फिर वजती ही रहेगी, उसमें नया धीरज जो आ गया है।

वालक "वाह। मै कोई पौधा हूँ "

स्त्री "हाँ, यह तू क्या जाने। तू मेरी सारी आशाओ का, सारे अनुभव का पौधा है, मेरा युगो-युगो का वसन्त।"

वांसुरी विल्कुल स्पष्ट वजने लगती है, अपने आत्म-विश्वास
वरण को गुंजाती हुई, उसके प्राणो में अपने स्वर को वसा
और वांसुरी के साथ-साथ गान के शब्द भी स्पष्ट होने लगते

"किंशुको की आरती सजा के वन गयी वधू वनस्थली ।
डाल-डाल रग छा गया ।
जागो, जागो
जागो सखि वसन्त आ गया।"

हीली-बोन् की बतखें

हीली-चोन् चौंकी। 'खू-ब्लाई' खासिया भाषा का 'राम-राम' है, किन्तु यह उच्चारण परदेसी है और स्वर अपरिचित—यह व्यक्ति कौन है ? फिर भी खासिया जाति के सुलभ आत्म-विश्वास के साथ तुरन्त सँभल कर और मुस्करा कर उसने उत्तर दिया, "खू-ब्लाई !" और क्षण-भर रुक कर फिर कुछ प्रश्न-सूचक स्वर में कहा, "आइये ? आइये ?"

आगन्तुक ने पूछा, "मैं आप की कुछ मदद कर सकता हूँ ? अभी चलते-चलते—शायद कुछ—"

"नहीं, वह कुछ नहीं"—कहते-कहते हीली का चेहरा फिर उदास हो आया। "अच्छा, आइये, देखिये।"

बाड़े की एक ओर आठ-दस बत्तखें थीं। बीचोबीच फर्श रक्त से स्याह हो रहा था और आस-पास बहुत-से पंख बिखर रहे थे। फर्श पर जहाँ-तहाँ पंजों और नाखूनों की छापें थीं।

आगन्तुक ने कहा, "लोमड़ी।"

"हाँ। यह चौथी बार है। इतने बरसों में कभी ऐसा नहीं हुआ था, पर अब दूसरे-तीसरे दिन एक-आध बत्तख मारी जाती है और कुछ उपाय नहीं सूझता। मेरी बत्तखों पर सारे मंडल के गाँव ईर्ष्या करते थे—स्वयं 'सियेम' के पास भी ऐसा बढ़िया झुंड नहीं था ! पर अब—" हीली चुप हो गयी।

आगन्तुक भी थोड़ी देर चुपचाप फर्श को और बत्तखों को देखता रहा। फिर उसने एक बार सिर से पैर तक हीली को देखा और मानो कुछ सोचने लगा। फिर जैसे निर्णय करता हुआ बोला, "आप ढिठाई न समझें तो एक बात कहूँ ?"

"कहिये।"

"मैं यहाँ छुट्टी पर आया हूँ और कुछ दिनों नाङ्-ब्लेम ठहरना चाहता हूँ। शिकार का मुझे शौक है। अगर आप इजाजत दें तो मैं इस डाकू की घात में बैठूँ—" फिर हीली की मुद्रा देख कर जल्दी से,

"धन्यवाद—अभी नही। आप की अनुमति हो तो शाम को आऊँगा। खू-ब्लाई—"

हीली कुछ रुकते स्वर में बोली, "खू-ब्लाई।" और बरामदे में मुड कर खडी होगयी। कैप्टेन दयाल बाडे में से बाहर हो कर रास्ते पर हो लिये और ऊपर चढने लगे, जिधर नयी धूप मे चीड की हरियाली दुरगी हो रही थी और बीच-बीच मे बुरूस के गुच्छे-गुच्छे गहरे लाल फूल मानो कह रहे थे, पहाड के भी हृदय है, जगल के भी हृदय है

[२]

दिन मे पहाड की हरियाली काली दीखती है, ललाई आग-सी दीप्त, पर साँझ के आलोक मे जैसे लाल ही पहले काला पड जाता है। हीली देख रही थी, बुरूस के वे इक्के-दुक्के गुच्छे न जाने कहाँ अन्धकार-लीन हो गये है, जब कि चीड के वृक्षो के आकार अभी एक दूसरे से अलग स्पष्ट पहचाने जा सकते है। क्यो रग ही पहले बुझता है, फूल ही पहले ओझल होते है, जब कि परिपार्श्व की एकरूपता बनी रहती है ?

हीली का मन उदास होकर अपने में सिमट आया। सामने फैला हुआ नाङ्-थ्लेमका पार्वतीय सौन्दर्य जैसे भाफ बन कर उड गया, चीड और बुरूस, चट्टानें, पूर्वपुरुषो और स्त्रियो की खडी और पडी स्मारक शिलाएँ, घास की टीलो-सी लहरें, दूर नीचे पहाडी नदी का ताम्र-मुकुर, मखमली चादर में रेशमी डोरे-सी झलकती हुई पगडडी—सब मूर्त आकार पीछे हट कर तिरोहित हो गये। हीली की खुली आँखें भीतर की ओर को ही देखने लगी—जहाँ भावनाएँ ही साकार थी, और अनुभूतियाँ ही मूर्त्त

हीली के पिता उस छोटे-से माडिलक राज्य के दीवान रहे थे। हीली तीन सतानो में सब से बडी थी, और अपनी दोनो बहनो की अपेक्षा अधिक सुन्दर भी। खासियो का जाति-सगठन स्त्री-प्रधान है, सामाजिक सत्ता स्त्री के हाथो में है और वह अनुशासन में चलती नही, अनुशासन को चलाती है। हीली भी मानो नाङ्-थ्लेम की अधिष्ठात्री थी। 'नाङ-

मुद्राओ के साथ उसके गाँव की कई स्त्रियो के सुख-दुःख, तृप्ति और अशान्ति, वासना और वेदना, आकाक्षा और सन्ताप उलझ गये थ, यहाँ तक कि वहाँ के वातावरण मे एक पराया और दूपित तनाव आ गया था। किन्तु वह उस मे अछूती ही रही थी। यह नही कि उसने इस के लिए कुछ उद्योग किया था या कि उसे गुमान था—नही, यह जैसे उस के निकट कभी यथार्थ ही नही हुआ था।

लोग कहते थे कि हीली सुन्दर है, पर स्त्री नही है। वह बांबी क्या, जिस में सांप नही बसता ? हीली की आँखें सहसा और भी घनी हो आयी—नही, इस से आगे वह नही सोचना चाहती ! व्यथा मर कर भी व्यथा से अन्य कुछ हो जाती है ? बिना सांप की बांबी—अपरूप, अनर्थक मिट्टी का ढूह ! यद्यपि, वह याद करना चाहती तो याद करने को कुछ था—बहुत कुछ था—प्यार उसने पाया था और उसने सोचा भी था कि—

नही कुछ नहीं सोचा था। जो प्यार करता है, जो प्यार पाता है, वह क्या कुछ सोचता है ? सोच सब बाद में होता है, जब सोचने को कुछ नही होता।

और अब वह बत्तखें पालती है। इतनी बडी, इतनी सुन्दर बत्तखें खासिया प्रदेश में और नही है। उसे विशेष चिन्ता नही है, बत्तखो के अडो से इस युद्धकाल में चार-पाँच रुपये रोज की आमदनी हो जाती है, और उस का खर्च ही क्या है ? वह अच्छी है, सुखी है, निश्चिन्त है—

लोमडी किन्तु वह कुछ दिन की बात है—उन का तो उपाय करना ही होगा। वह फौजी अफसर जरूर उसे मार देगा—नही तो कुछ दिन बाद थेड्-क्यू के इधर आने पर वह उसे कहेगी कि तीर मे मार दे या जाल लगा दे कितनी दुष्ट होती है लोमडी—क्या रोज़ दो-एक बत्तख खा सकती है ? व्यर्थ का नुकसान—सभी जन्तु जरूरत से ज्यादा घेर लेते और नष्ट करते हैं—

की दीवारें असल में तो केवल काठ के परदे ही होते हैं, हीली ने जाना कि दूसरे कमरे मे कैप्टेन दयाल जाने की तैयारी कर रहे हैं। तब वह भी जल्दी से उठी, आग जला कर चाय का पानी रख, मुँह-हाथ धो कर वाहर निकली। क्षण भर अनिश्चय के वाद वह वत्तखो के वाडे की तरफ जाने को ही थी कि कैप्टेन दयाल ने वाहर निकलते हुए कहा, "खू-ब्लाई, मिस यिर्वा, शिकार जख्मी तो हो गया पर मिला नही, अब खोज में जा रहा हूँ।"

"अच्छा ? कैसे पता लगा ?"

"खून की निशानो से। जख्म गहरा ही हुआ है—घसीट कर चलने के निशान साफ दीखते थे। अब तक बचा नही होगा—देखना यही है कि कितनी दूर गया होगा।"

"मैं भी चलूँगी। उस डाकू को देखूँ तो—" कह कर हीली लपक कर एक वडी 'डाग्रो' उठा लायी और चलने को तैयार हो गयी।

खून के निशान चीड के जगल को छू कर एक ओर मुड गये, जिधर ढलाव था और आगे जरैंत की झाडियाँ, जिन के पीछे एक छोटा-सा झरना वहता था। हीली ने उस का जल कभी देखा नही था, केवल कल-कल शब्द ही सुना था—जरैंत का झुरमुट उसे विल्कुल छाये हुए था। निशान झुरमुट तक आ कर लुप्त हो गये थे।

कैप्टेन दयाल ने कहा, "इस के अन्दर घुसना पडेगा। आप यही ठह-रिये।"

"उधर ऊपर से शायद खुली जगह मिल जाय—वहाँ से पानी के साथ-साथ वढा जा सकेगा—" कह कर हीली वायें को मुडी, और कैप्टेन दयाल साथ हो लिये।

सचमुच कुछ ऊपर जाकर झाडियाँ कुछ विरली हो गयी थी और उन के वीच में घुसने का रास्ता निकाला जा सकता था। यहाँ कैप्टेन दयाल आगे हो लिये, अपनी वन्दूक के कुन्दे से झाडियाँ इधर-उधर ठेलते हुए रास्ता वनाते चले। पीछे-पीछे हीली हटाई हुई लचकीली शाखाओं

कैप्टेन दयाल ने धीमे स्वर मे कहा, "यह भी तो डाकू होगी—"

हीली की ओर से कोई उत्तर नही मिला। उन्होंने फिर कहा, "इसे भी मार दें—तो बच्चे पाले जा सकें—"

फिर कोई उत्तर न पा कर उन्होंने मुड कर देखा और अचकचा कर रह गये।

पीछे हीली नही थी।

थोड़ी देर बाद, कुछ प्रकृतस्थ होकर उन्होने कहा, "अजीब औरत है।" फिर थोडी देर वह लोमडी को और बच्चो को देखते रहे। तब "उँह, मुझे क्या!" कहकर वह अनमने-से मुडे और जिधर से आये थे उधर ही चलने लगे।

[४]

हीली नगे पैर ही आयी थी, पर लौटती बार उस ने शब्द न करने का कोई यत्न किया हो, ऐसा वह नही जानती थी। झुरमुट मे बाहर निकल कर वह उन्माद की तेजी से घर की ओर दौडी, और वहाँ पहुँच कर सीधी बाडे में घुस गयी। उस के तूफानी वेग से चौंक कर बत्तखें पहले तो बिखर गयी पर जब वह एक कोने में जाकर बाडे के सहारे टिक कर खडी अपलक उन्हे देखने लगी तब वे गर्दनें लम्बी कर के उचकती हुई-सी उस के चारो ओर जुट गयी और 'कक्! क-क्' करने लगी।

वह अधैर्य हीली को छू न सका, जैसे चेतना के बाहर से फिसल कर गिर गया। हीली शून्य दृष्टि से बत्तखो की ओर तकती रही।

एक ढीठ बत्तख ने गर्दन से उस के हाथ को ठेला। हीली ने उसी शून्य दृष्टि से हाथ की ओर देखा। सहसा उस का हाथ कडा हो आया, उस की मुट्ठी डाओ के हत्थे पर भिच गयी। दूसरे हाथ से उसने बत्तख का गला पकड लिया और दीवार के पास खीचते हुए डाओ के एक झटके से काट डाला।

उसी अनदेखते अचूक निश्चय से उसने दूसरी बत्तख का गला पकडा, भिचे हुए दांतो से कहा "अभागिन!" और उस का सिर उडा

दिया। फिर तीसरी, फिर चौथी, पाँचवीं .ग्यारह बार डाम्रो उठी और 'खट् !' के शब्द के साथ बाडे का खम्भा काँपा, फिर एक बार हीली ने चारो ओर नज़र दौडायी और बाहर निकल गयी।

बरामदे में पहुँच कर जैसे उसने अपने को सँभालने को खम्भे की ओर हाथ बढाया और लडखडाती हुई उसी के सहारे बैठ गयी।

कैप्टेन दयाल ने आकर देखा, खम्भे के सहारे एक अचल मूर्ति बैठी है जिसके हाथ लथपथ है और पैरो के पास खून से रँगी डाम्रो पडी है। उन्होने घबरा कर कहा, "यह क्या, मिस यिर्वा ?" और फिर उत्तर न पाकर उस की आँखो का जड विस्तार लक्ष्य करते हुए उस के कन्धे पर हाथ रखते हुए फिर, धीमे-से, "क्या हुआ, हीली—"

हीली कन्धा झटक कर, छिटक कर परे हटती हुई खडी हो गयी और तीखेपन से थर्राती हुई आवाज़ से बोली, "दूर रहो, हत्यारे !"

कैप्टेन दयाल ने कुछ कहना चाहा, पर अवाक् ही रह गये, क्योकि उन्होने देखा, हीली की आँखो में वह निर्व्याम सूनापन घना हो आया है जो कि पर्वत का निरन्तन विजन सौन्दर्य है।

कैप्टेन दयाल ने धीमे स्वर मे कहा, "यह भी तो डाकू होगी—"

हीली की ओर मे कोई उत्तर नही मिला। उन्होने फिर कहा, "इसे भी मार दे—तो बच्चे पाले जा सके—"

फिर कोई उत्तर न पा कर उन्होंने मुड कर देखा और अचकचा कर रह गये।

पीछे हीली नही थी।

थोडी देर बाद, कुछ प्रकृतस्थ होकर उन्होंने कहा, "अजीब औरत है।" फिर थोडी देर वह लोमडी को और बच्चो को देखते रहे। तब "उँह, मुझे क्या!" कहकर वह अनमने-से मुडे और जिधर से आये थे उधर ही चलने लगे।

[४]

हीली नगे पैर ही आयी थी, पर लौटती बार उस ने शब्द न करने का कोई यत्न किया हो, ऐसा वह नही जानती थी। झुरमुट मे बाहर निकल कर वह उन्माद की तेजी से घर की ओर दौडी, और वहाँ पहुँच कर सीधी बाडे में घुस गयी। उस के तूफानी वेग से चौंक कर बत्तखें पहले तो बिखर गयी पर जब वह एक कोने मे जाकर बाडे के सहारे टिक कर खडी अपलक उन्हे देखने लगी तब वे गर्दनें लम्बी कर के उचकती हुई-सी उस के चारो ओर जुट गयी और 'कक्! क-क्' करने लगी।

वह अधैर्य हीली को छु न सका, जैसे चेतना के बाहर से फिसल कर गिर गया। हीली शून्य दृष्टि से बत्तखो की ओर तकती रही।

एक ढीठ बत्तख ने गर्दन से उस के हाथ को ठेला। हीली ने उसी शून्य दृष्टि से हाथ की ओर देखा। सहसा उस का हाथ कडा हो आया, उस की मुट्ठी डाओ के हत्थे पर भिच गयी। दूसरे हाथ से उसने बत्तख का गला पकड लिया और दीवार के पास खीचते हुए डाओ के एक झटके से काट डाला।

उसी अनदेखते अचूक निश्चय से उसने दूसरी बत्तख का गला पकडा, भिचे हुए दाँतो से कहा "अभागिन!" और उस का सिर उडा

दिया । फिर तीसरी, फिर चौथी, पाँचवी .ग्यारह वार डाओ उठी और 'खट् !' के शब्द के साथ वाडे का खम्भा काँपा, फिर एक वार हीली ने चारो ओर नजर दौडायी और बाहर निकल गयी ।

वरामदे में पहुँच कर जैसे उसने अपने को सँभालने को खम्भे की ओर हाथ वढाया और लडखडाती हुई उसी के सहारे वैठ गयी ।

कैप्टेन दयाल ने आकर देखा, खम्भे के सहारे एक अचल मूर्ति वैठी है जिसके हाथ लथपथ है और पैरो के पास खून से रँगी डाओ पडी है । उन्होंने घवरा कर कहा, "यह क्या, मिस यिर्वा ?" और फिर उत्तर न पाकर उस की आँखो का जड विस्तार लक्ष्य करते हुए उस के कन्धे पर हाथ रखते हुए फिर, धीमे-से, "क्या हुआ, हीली—"

हीली कन्धा झटक कर, छिटक कर परे हटती हुई खडी हो गयी और तीखेपन से थर्राती हुई आवाज़ से वोली, "दूर रहो, हत्यारे !"

कैप्टेन दयाल ने कुछ कहना चाहा, पर अवाक् ही रह गये, क्योंकि उन्होंने देखा, हीली की आँखो में वह निर्व्यास सूनापन घना हो आया है जो कि पर्वत का निरन्तन विजन सौन्दर्य है ।

वे दूसरे

हेमन्त कई क्षण तक चुपचाप वालू की ओर देखता रहा। यह नहीं कि उस के मन में शून्य था, यह भी नही कि मन की बात कहने को शब्द बिलकुल ही नही थे, केवल यही कि वालू पर उस के अपने पैरों की जो छाप पडी हुई थी—गीली वालू पर, जो चिकनी पाटी की तरह होती है—उस मे उस के लिए एक आकर्षण था जिस मे निरा कौतूहल नहीं, जिज्ञासा की एक तीखी तात्कालिकता थी। छालियाँ उस के पास तक आ कर लौट जाती थी—क्या कोई वडी लहर आ कर उस छाप को लील जायगी ? क्या एक ही लहर में वह छाप मिट जायगी—या कि केवल हल्की पड जायगी—मिटने के लिए कई लहरो को आना होगा, जिन लहरो को पैदा करने के लिए समुद्र को, पृथ्वी की आन्तरिक हलचल को, चन्द्र-सूर्य-तारागण के आकर्षण की एक विशेष अन्योन्य-सम्बद्ध स्थिति को वार-वार आना होगा . क्या उसका एक-एक अनैच्छिक पद-चिन्ह मिटाने के लिए सारे विश्व-चक्र के एक विशेष आवर्तन की आवश्यकता है ?

"कोरा अहकार !" उसने अपने को झकझोरने के लिए कहा, "कोरा अहकार ! इस लिए नही कि वात मूलत झूठ है, इस लिए कि उस को तूल देना झूठ है झूठ मूलत तथ्य का नही, आग्रह का, दृष्टि का दोष है, झूठ-सच विषयी पर आश्रित, सापेक्ष्य है, तथ्य विषयी से परे और निरपेक्ष है।"

और तव उस ने अपनी साथिन से कहा, "सुधा, मैं कह नही सकता कि मेरे मन में कितनी ग्लानि है, और मैं जानता हूँ कि वह वर्षों तक मुझे खाती रहेगी—मुझे लगता है कि अनुताप का यह वोझ मैं सारा जीवन ढोता रहूँगा। लेकिन—" क्षण-भर रुक कर उस ने सुधा के चेहरे की ओर देखा—"लेकिन मैं नही चाहता कि कटुता का वोझ तुम्हे भी ढोना पडे या कि तुम उसे याद भी रखो। और—"

वह फिर थोडी देर चुप हो गया । इस लिए भी कि आगे वह जो कहना चाहता था उसे कहने मे उसे झिझक थी, और इस लिए भी कि वह चाहता था, ठीक इस स्थल पर सुधा उस की बात काट कर कुछ कह दे, जिस से उसे कुछ सहारा मिल जाय ।

पर सुधा ने कुछ कहा नही । वह पिघली भी नही । हेमन्त ने यह आशा तो नही की थी कि उस पर भी अनुताप का इतना गहरा बोझ होगा कि उसे उदार बना दे, पर इतने की आशा उसने शायद की थी कि सुधा में और नही तो करुणा का ही इतना भाव होगा कि उस की सच्ची भावना को स्वीकार करा दे । पर सुधा ने जल्दी से मुंह फेर लिया—और हेमन्त ने देखा कि उस फिरते हुए मुंह पर एक मुस्कान दौडने वाली है—विजय के गर्व की मुस्कान—मानो कहती हो कि 'अब जा कर तुम जानोगे, अनुताप की आग में जलोगे तो मुझे शान्ति मिलेगी—तुम जिसने मुझे सताया-जलाया—"

ऐसी विदा की उसने कल्पना नही की थी। उसे सहसा लगा कि वह मूर्ख है, महामूर्ख, क्योकि जब साथ रहना असम्भव पाकर वे अलग हुए, और इतना कटुता के बाद तलाक हुआ ही तब और अलग विदा लेना चाहने का क्या मतलब था ? क्या वह कलाकार का दम्भ ही नही है कि वह पराजय को भी सुघर रूप देना चाहे ? अन्त का सौन्दर्य उसकी सुचारुता में, सुघराई में नही है, करुणा में भी नही है, वह उसके अपरिहार्य अन्तिमपन और काठिन्य मे है अन्त सुन्दर है क्योंकि वह महान् है, महान् है क्योकि हम उस का कुछ नही कर सकते, उसे केवल स्वीकार कर सकते है .

किन्तु उस का मन नही माना । देख कर भी उसने सुधा की गर्वीली मुस्कान देखनी नही चाही । क्योकि यह तो निरी मृत्यु-पूजा है । अन्त इस लिए महान् है कि हम उस के आगे अशक्त है?—नही, हमारी स्वीकृति का सयम और साहस उसे महत्ता देता है—

और उसने पूरा साहस बटोर कर अपने मन की बात कह ही डाली,

"और अगर तुम मुझे इतना भूल सको—यानी मेरे साथ की कटुता को—दुबारा विवाह की बात तुम्हारे मन में उठे, तो—तो मुझे बडी सान्त्वना मिलेगी—मेरा अनुताप तब भी मिटेगा या नही, यह तो नही कह सकता, पर इतना तो मान सकूँगा कि मै सदा के लिए शाप न बना, कि—"

अब सुधा फिर उस की ओर मुडी। अब उसने अपने को वश में कर लिया था—वह अप्रतिहत मुस्कान उसके चेहरे पर नही थी। उसनें रूखे स्वर से कहा, "मेरे विवाह की बात सोचने की तुम्हे जरूरत नही है। हाँ, उस मे तुम अपने को अधिक स्वतन्त्र महसूस कर सकोगे, यह तो मै समझती हूँ।"

हेमन्त थोडी देर बोल ही नहीं सका। फिर जब उसने सोचा कि शायद अब सकूँ, तब उसने पाया कि वह चाहता नही है। तीन वर्षों की व्यर्थ चेष्टा में, अलग होने की कटुता में और फिर तलाक की कानूनी कार्रवाई के ग्लानि-जनक प्रसग में वह जितना नही टूटा था, उतना इस एक क्षण में टूट गया। उसने आँखें फिर पैर की उसी छाप पर टिका लीं—एक लहर आकर उस पर हल्के हाथ से लिपाई कर गयी थी, गड्ढे कम गहरे हो गये थे पर छाप का आकार स्पष्ट पहचाना जाता था, बल्कि लहर के पीछे हटने के साथ पैर की छाप मे भरा हुआ पानी एक ओर को मानो मोरचा तोड कर वह निकला था और उधर को बालू में एक नयी लीक पड गयी थी—इस छाप को मिटाना ही होगा—लहर को आना ही होगा, और यह लीक—यह लीक एक अनावश्यक आकस्मिक घटना है जिसे और एक आकस्मिक घटना अवश्य मिटायेगी, नही तो सब गलत है, सब व्यवस्था गलत है, कार्य-कारणत्व ही धोखा है—और तब सृष्टि एक आधारहीन, कारणहीन, अर्थहीन विसगति है—पर वह वैसी हो नही सकती—

वह आँखो से उस पैर की छाप को पकडे रहेगा। उस में स्वास्थ्य है—उस के सहारे यथार्थ से उस का सम्बन्ध जुडा है—उस यथार्थ से

जिस में भावनाएँ अर्थ रखती है, और सयत हैं, नही तो यथार्थ तो सब कुछ है जो है—पर ऐसा भी हो सकता है कि भावनाएँ ही एक भूल-भुलैया हो जावें—

उसने फिर कहा, "मैं यहाँ से करुणा की स्मृति भी वापस न ले कर जाऊँगा, यही सोच कर यहाँ आया था। और इसी लिए सागर के किनारे—कि शायद यहाँ अपनी क्षुद्रता उतनी प्यारी न लगे, और—" वह फिर रुक गया, उस के वाक्य की गढन ठीक नही थी क्योंकि इस के अर्थ दोनो तरफ लग सकते है और वह केवल अपनी क्षुद्रता की बात करना चाहता है, इस वक्त आरोप-अभियोग उस में नही है, न होने देना होगा, केवल स्वीकृति .

एक और लहर आयी, जिसके उफनते झाग पैर की छाप के बहुत आगे तक छा गये। जब लहर लौटी, और झाग के बुलबुले बैठ गये, तब हेमन्त ने देखा, छाप मिट गयी है। या कि नही, उस की झाईं-सी अभी दीखती है ? नही, निश्चय ही वह उसका भ्रम है, और कोई कुछ न देख सकता, वह इस लिए देखता है कि उसे याद है—

'याद' है ! कितनी घुली हुई मिथ्या छायाओ को हम केवल स्मृति के—स्मरण-भ्रम के !—जोर से सच बनाये रहते है ? सागर का जो तट मीलो तक फैला है—मीलो क्यो, अगर कोई चीज भौतिक यथार्थ के इस छोर से उस छोर तक, इस सीमा से उस सीमा तक, इस असीम से उस असीम तक फैली है तो वह सागर का तट है ! उसी पर एक अदृश्य पैर की छाप को मैं 'देख' रहा हूँ, वह भी इतनी स्पष्टता से कि उस से मेरा जीवन बँध रहा है—क्या यह यथार्थ है ? क्या देखना यथार्थ है ? क्या—

❀ ❀ ❀

हेमन्त देखता है—

वे दोनो पहाडी की चोटी पर खडे है। सामने अत्यन्त सुन्दर दृश्य है—छोटी-छोटी पहाडियो से घिरी हुई-सी झील जो साँझ के आलोक

चाहे जितना जो अर्थ पढा जा सकता है, अधिक या कम. और अपने मन का सच भी उसने कह दिया है, छिपाया नही है ..

सुधा ने उस की ओर देखा। क्या हेमन्त को धोखा ही हुआ कि जब देखा, तब पहचान उन आंखो में नही थी, तत्काल बाद आयी—कुछ अचकचाहट के साथ ?

सुधा बोली, "क्या सुन्दर मे हम सब अपने-अपने अलगाव डुबा नही सकते ?"

"सकते हैं। अपने-अपने एकान्त का लय—" और रुक गया। लेकिन मन के भीतर कुछ बोला, "सुन्दर में, लेकिन एक-दूसरे मे नही, एक-दूसरे में नही।"

अपने को लय करने के लिए सागर की विशालता से अच्छा और कौन द्रावक मिल सकता है ? कितने लोग सागर-तट पर खडे-खडे इयत्ता को उस में विलीन कर देते होगे लेकिन उस से क्या एक-दूसरे के कुछ भी निकट आ सकते होगे ? सागर में डूब कर भी क्या प्रत्येक चट्टान अलग चट्टान नही बनी रहती ? जो द्रव नही होती, द्रव हो नही सकती

और सागर की छाली, पैर की छाप को मिटाने से पहले उस में छेद करती है, दरार डालती है, नयी लीक बना देती है

हेमन्त ने फिर देखा

नदी पर बजरा धीरे-धीरे बह रहा है। उस के डोलने से, और बाहर लकडी पर पडती माँझी की दबी हुई पद-चाप से ही मालूम हो रहा है कि वह बह रहा है, क्योकि जहां वह बैठा है, वहां चारो ओर के परदे खिंचे हुए है, बाहर कुछ नही दीख रहा है। कही भी कुछ भी दीख रहा है, ऐसा नही है, क्योकि उस का शरीर एक अन्य शरीर से उलझा-गुंथा हुआ है और उस गुथन में सुलझाव की, तारतम्य की कुछ ऐसी कमी है कि दृष्टि देने वाली वासना केवल धुआं दे रही है जिस मे आँखें कडुआ जाती है। क्यो नही सब कुछ को दृष्टि से बाहर

कर के, उस मन्द-मन्द दोलन पर झूलते हुए यह अपर-शरीरत्व का भाव मिटता—क्यो नही—

उसने किंचित् बल से सुधा का परे को मुडा मुँह अपनी ओर फिराया—कदाचित् उस की आँखो मे आँखे डाल कर दोनो इस खाई को पार कर सकें—लेकिन सुधा की आँखें जोर मे भिची हुई थी—क्यो ? वासना अन्धकार मांगती है शायद, ताकि वह अपनी ज्वाला-मयी सृष्टि को अपने ढग से देखे, यथार्थ उस मे बाधा न दे—पर बन्द आँखे—क्या वह ज्योति शरीर अन्धी आँखो से ही देखा जायगा ? पर अन्धी आँखे पृथक् आँखें है, और वासना अगर युत नही है तो कुछ नही है—

उसने भर्राये स्वर में कहा, "आँखें खोलो—आँखें खोलो—"

वह जान सका कि आँखे खुलने के साथ-साथ सुधा का शरीर सहसा कठोर पड गया है, और वह जान सका कि पहचान उन आँखो में नही थी, उन आँखो में था—वह, वह दूसरा, और इसी लिए आँखें बन्द थी—बाहर एक धुएँ का खोल है जो उसे भी लपेट लेगा, और भीतर एक ज्योति शरीर जो—जो कहाँ है ? क्या है भी ?

और थोडी देर के लिए नाव का दोलना, गति, हवा, साँस, हृद्गति, सब कुछ रुक गया था, और फिर धीरे-धीरे अनजाने वह वासना की कुंडलक खुल गयी थी—साँप मर गया था—हेमन्त अलग जाकर परदा हटा कर बाहर देखने लगा था नदी किनारे के गाँव की मुर्गाबियाँ कगार की छाँह मे तैरती हुई, और सुधा अपने अस्तव्यस्त कपडो की सल-वटें खीच कर के पास पडी चौकी के फूल सँवारने लगी थी। हेमन्त का मन आत्मग्लानि से भर आया था—वह जो जानता है उसे क्यो भूल गया, भूल नही सका, क्यो उसको अनदेखी करना चाह सका ? सुधा की आँखो मे वह दूसरा है, और स्वय उस की अपनी—क्या उस की आँखो में भी एक परछाई नही है ? और जब तक है तब तक यह उलझन, यह गुंथन उस ज्योति शरीर का किरण-जाल नही है, केवल

साँप की गुजलक है जिस के दंश में केवल मरण है .

और सुधा ने कहा था, "हेमन्त, तुम मेरी एक इच्छा पूरी करोगे ?"

"क्या ?"

"मैं मेरे लिए शराब ला सकोगे ? मै शराब पीना चाहती हूँ।"

मुर्गाबियाँ कगार के कीचड मे चोच फिचफिचाती हुई मुर्गाबियाँ और उन के आस-पास बनते हुए लहरोके वृत्त—जो सागर की लहरो में घुल जाते है, और सागर वह रेत के पैरो की छाप धीरे-धीरे मिटा देता है—

शराब वह लाया था। मूक विद्रोह मे भरा हुआ, पर लाया था। दोपहर को वे खाना खाने बैठे थे, और साथ सुधा ने शराब पीनी चाही थी—पी थी। दोपहर को कोई नही पीता, खाने के साथ कोई नही पीता, कम से कम जिन-ह्विस्की जैसी भभके की शराबें, और उस ढग से—यह न वे ठीक जानते थे, न वह सोचने की बात थी। क्योंकि वह शराब वातावरण को रगीनी देने, बातचीत को आलोकित करने के लिए नही थी, वह शराब स्वय अपनी इन्द्रियो को थप्पड मार कर सन्न कर देने के लिए थी हेमन्त देख रहा था, और केवल देखना, वह भी स्त्री को शराब पीते, स्वय ग्लानि-जनक है, इस लिए साथ पी रहा था। और जब उसने देखा कि सुधा ने बडे निश्चय-पूर्वक बहुत-सी अपने ग्लास में एक साथ ढाल ली है तब मुख्यतया इस लिए कि सुधा और न पी सके, उसनें सहसा बोतल उठा कर मुंह को लगा ली थी और सुधा के हाथा-पाई करते-करते भी सारी पी गया था।

तेज शराबो में स्वाद यो भी नही होता, और ऐसे पीने में तो और भी नही, उसे बडी जोर से उबकाई आयी थी, पर उस ने किसी तरह उसे दबा कर चार-छ ग्रास खाना खा ही लिया था

फिर उस की चेतना भी कुछ मन्द पड गयी थी। उसे याद सब

यथास्थान पहुँच जाय, तव दिन छिप रहा था। मुँह-हाथ धोकर जब वह सख्त सिर-दर्द लिए कमरे में लौटा था, तब सुधा सोयी पडी थी। उसने नीद में, या वीच में जाग कर, वहीं पास ही कै कर दी थी पर उस का भी उसे होश नही था

और उस ने सब किवाड-खिडकियाँ खोली थी, नौकर वाहर मुस्कराया था कि वावू साहब दिन भर किवाड वन्द कर के सोये रहे, चाय-पानी और व्यालू की चिन्ता भूल कर—नयी शादी है न

तव उसने वैठ कर सामने-सामने उस दूसरे की वात को फिर मे सोचा था और गहरे वैठा लिया था जब विवाह हुआ था, तब दोनो जानते थे कि दोनो का पहले अन्यत्र लगाव रहा है जो मिटा नही है, लेकिन जिस का कोई रास्ता भी नही है। एक विवाहित व्यक्ति था, और पति-पत्नी दोनो ही सुधा के भी और हेमन्त के भी घने मित्र थे वह परिवार न टूटे, यह भी सब के ध्यान में था, और विवाह हुआ तब जैसे यह भी एक बात पीछे कही थी कि अगर सभ्य समाज में ऐसी उलझनें पैदा होती है, तो सभ्य व्यक्ति उसका सामना भी सभ्य तरीको से कर सकता है, प्यार जहाँ है वहाँ हो, और विवाह विवाह तो सामाजिक सम्बन्ध है, व्यक्ति के जीवन में वह बाधक हो ही, ऐसा क्यो ?

वह अपनी भूल जानता और मानता है—जान गया। और भूल दोनो की थी, इस वात के पीछे उसने आड नही ली।

वह दूसरा क्या वह आज भी उस दूसरे की बात कर सकता है ? अपनी ओर से, या दूसरी ओर से ? हेमन्त ने सागर की ओर देखा, उसकी लहर में उसे वुरूस के फूलो का एक वडा-सा लाल गुच्छा दीखा, जो वास्तव में किसी की कवरी म खोसा हुआ है, कवरी और माथे की रेखा भी उसे दीख गयी, और ग्रीवा की वकिम भगिमा, किन्तु चेहरा—वहाँ उसकी दृष्टि रुक गयी। नही वह दूसरी, थी—और आज भी वह कैसे कहे कि वह है नही केवल थी, यद्यपि वह

जानता है कि वह हो कर भी हेमन्त के जीवन से सदा के लिए चली गयी है। पर उस को इस झमेले में नही लाना होगा, वह अलग ही है। उसने कभी कुछ नही माँगा न प्यार, न व्याह, न वासना वह देकर चली गयी जैसे बिजली कौंध कर गिर कर मिट जाती है

और सुधा ? हेमन्त को याद आया, व्याह के बाद सुधा को उस दूसरे की एक चिट्ठी भी आयी थी। कई दिन बाद। उसने देखी नही थी, कुछ पूछा नही था, सुधा को अनमना और अस्थिर देख कर भी नही। पर दूसरे-तीसरे दिन सुधा ने ही कहा था, "यह चिट्ठी आयी थी—पढ लो।"

और उस में अनिच्छा स्पष्ट थी। 'मैं ने कह दिया, मेरा कर्तव्य था। तुम इनकार करो पढने से, क्योंकि तुम्हारा भी वह कर्तव्य है—तुम्हे मुझ पर विश्वास करना होगा!'

हेमन्त ने चिट्ठी न लेते हुए कहा था, "क्या लिखा है ?"

"कुछ नही—यो ही शुभ-कामनायें—और अपने इलाके का वर्णन—"

हेमन्त ने अनचाहे लक्ष्य किया था कि चिट्ठी लम्बी है। आशीर्वाद छोटे होते है .खास कर उस के, जो वह दूसरा व्यक्ति हो उस की आँखें चोरी से कागज़ पर फिसलती हुई एक वाक्य पर रुक गयी थी "और मैं सोचता हूँ कि तुम शीघ्र ही उस के बच्चे की माँ भी होगी—उस बच्चे की सूरत उस जैसी होगी, लेकिन वह तुम्हारी देह—" और जैसे उस ने स्वय चोर को पकड लिया हो, ऐसे चौंक कर उस की दृष्टि हट गयी थी।

क्या वह बहुत बडा स्वीकार नही है ? किन्तु कैसी अद्भुत है यह बात, कि जिस की आत्मा हम दूसरे को सौंपने को तैयार है—क्योंकि उस के व्याह की बात स्वीकार करते है—उसी की देह को सौंपते क्यो हमें इतना क्लेश होता है ? 'दूषित' या 'भ्रष्ट' क्या देह होती है,

या मन—आत्मा ? या कि देह को हम देख, छू, सकते हैं, बस इतनी-सी बात है ?

उसने कहा था, "ठीक है, मैं पढ कर क्या करूँगा। तुम उत्तर दे देना।" और उठ कर हट गया था

कुसुम के गुच्छे-गुच्छे लाल फूल वह भी क्या ऐसे ही सोचती—कहती ? कल्पना का क्या भरोसा, लेकिन हेमन्त जानता है, कभी कुछ कहने का अवसर उसे होता, या कुछ वह कहना चाहती, तो यही कहती, "मैंने अपनी आत्मा तुम्हे दी है, इस लिए मेरी देह भी तुम लो—क्योंकि वह आत्मा का खोल है। और उस के बदले में कुछ देना कभी मत चाहना, क्योंकि वह मेरे इस उपहार का अपमान है। तुम निरपेक्ष भाव से जब जो दोगे, मैं वर समझ कर ले लूँगी "

यह आदिम, अराजक, व्यक्ति-परक दृष्टिकोण है। लेकिन यही क्या एक मात्र सभ्य दृष्टिकोण नही है, जो हमारे सभ्य जीवन के बोझ के नीचे दबा जा रहा है ?

❀ ❀ ❀

"तुम अपने को अधिक स्वतन्त्र महसूस कर सकोगे" स्मृति का दंश ! लेकिन नही, मन, इस पर मत अटक, यह व्यर्थ है ! अत्यन्त व्यर्थ ! हमारा जीवन हम से है, उन दूसरो से नही, वे हमारे कितने ही निकट क्यो न हो, और हमारी न चाहने की उदारता में ही हमारी स्वतन्त्रता है। पाने में नही, न पाने की याद करने में नही। पैर की जो छाप सागर-तट की बालू पर बन गयी है, उसे सागर की लहरो में घुल जाने दो, चाहे धीरे-धीरे यो ही, चाहे दरारो में फट कर .

"इसी लिए तुम्हे सागर के किनारे पर मिला, कि शायद अपनी क्षुद्रता यहाँ इतनी प्यारी न लगे—"

और स्मृति ? व्यर्थ, व्यर्थ, व्यर्थ ! क्षमा की पराजय, जीवन की खाज जीवन की देन हमें या तो विनयपूर्वक स्वीकार करनी है,—जिस दशा में स्मृति बेकार है, विनय चरित्र का एक अग है और स्मति

केवल मस्तिष्क का एक गुण—या फिर अगर हम मे विनय नही है, हमे स्वीकार नही है, तो स्मृति केवल एक कीडा है जिस के दश से फोडे होते है, और हम केवल अपने फोडे चाटते रहते है। फोडे चाटना क्या सभ्य कर्म है ? सागर का भी अपना विनय है, वह पैरो की छाप मिटाता है, दरारें मिलाता है, सागर का विनय मुग्ध नही करता, वह स्वास्थ्य-लाभ को प्रेरित करता है—पैरो की छापे मिटाता हुआ

"सुधा, मै सच्चे दिल से कहता हूँ—सागर की कसम खाकर—मेरे मन में कोई कटुता नही है। जो कुछ था, या होना चाहा था, उसे जब मिटा दिया तो कटुता क्यो अनिवार्य है ? मेरा अपराध का बोध नही मिटा, न मिटेगा—पर तुम जाओ तो क्षमा कर के जाओ—सागर की तरह, और मै तो—"

उस की आवाज़ फिर रुक गयी। तभी एक बडे ज़ोर की छाली आयी—हेमन्त के पैर की छाप को पार करती हुई, आगे बढ कर हेमन्त के पैरो को भी लिपट गयी। झाग में खडे-खडे उसने लम्बी सांस ली और कहा "सुधा, तुम सुखी रहो।"

सुधा की मुस्कराहट में तीखापन था। उसने पीछे हटते हुए नमस्कार किया और चल पडी।

हेमन्त क्षण भर उसे देखता रहा। फिर उसने पैरो की ओर देखा, वह भगोडी छाली लौटती हुई उस के पैरो के तले से थोडी-सी बालू काट ले गयी थी, और गीली रेत पर पडे हुए तो सब पैरो की छाप बिलकुल मिट गयी थी—जैसे लिपी-पुती एक नयी वेदिका खडी हो

हेमन्त ने लम्बी सांस ली। फिर जैसे सहसा याद कर के देखा, सुधा दूर पर चली जा रही थी। और अभी तक वह अकेली थी, अब दूर के एक झाऊ के पीछे से एक और व्यक्ति उस के साथ हो लिया और क्षण ही भर बाद कदम से कदम मिला कर चलने लगा। हेमन्त ने पहचाना, वही दूसरा

पर वह चौंका नही। ठीक है। पैरो की छाप बिलकुल मिट गयी

है। मन ही मन उसने सागर को प्रणाम किया।

इसी तरह पैरों की छाप मिट जायगी। सब से पहले उस की। फिर धीरे-धीरे उन दूसरों की सागर आदिम, अराजक, व्यक्ति-परक है, स्वयसिद्ध और सयत हैं। सागर सम्य है

कविप्रिया

शान्ता—कवि दिवाकर की पत्नी, सुधा, मालती—शान्ता की सहेलियाँ, सुरेश—बन्धु, सुधा का पति, अशोक—बन्धु, दिवाकर—कवि। बालक, माली, बेयरा।

(बँगले के सामने बगीचे के एक भाग में, शान्ता और माली।)

माली "पानी तो हम बराबर देत रहेन, माँजी। मगर लू—"

शान्ता (जिसके स्वर में अपार धैर्य और एक स्निग्ध अन्तर्मुखीन भाव है) "रहने दो, माली, ऐसे बहाने मत बनाओ। तुम्हे आदत है सब चीज़ दैव पर छोडने की—'दैव नही बरसेगा तो बीज नही जमेगा।' ऐसे भी देश होते है जहाँ दैव कभी बरसता ही नही—वहाँ—वहाँ क्या पौधे ही नही होते?"

माली (मानों अपने बचाव में) "माँजी—"

[निकट आती हुई हँसती हुई आवाज़ें . मालती, सुधा और सुरेश]

सुधा . वह रही, बगीचे मे। शान्ता!"

सुरेश . "नमस्कार, शान्ता भाभी। बागवानी हो रही है?"

शान्ता "अरे सुधा—सुरेश भैया! आइये। (झकपकाती-सी!) मेरे हाथ मट्टी के हो रहे है—माली, दौडकर जरा देवीसरन से कुर्सियाँ डाल देने को कहो तो—"

मालती "जी हाँ, मेरे तरफ तो देखेंगी क्यो श्रीमती शान्ता देवी—उर्फ कविप्रिया—"

शान्ता "ओहो मालती। जरा सामने तो आओ, मैने तो देखा ही नही—"

मालती "जी यही तो कह रही हूँ। मुझे क्यों देखने लगी। मै न कवि न बुलबुल, न गुलाब का फूल—"

शान्ता (हैरान सी) "आखिर मामला क्या है?"

सुधा (धीरे से) "न सही गुलाब का फूल, मालती का सही!"

मालती (डपट कर) "चुप रहो जी ! (शान्ता से) अच्छा कविप्रिया देवी जी, पहले तो मिठाई खिलाइये—"

सुरेश "नाम ठीक रखा है आपने—कविप्रिया देवी। आप को भी कवि होना चाहिये था—"

मालती "मुझे खाह्मखाह ? कवि तो जो हैं सो हुई हैं—पूछो न उनकी देवी जी से !"

शान्ता "यह पहेली क्या है आखिर ? मालती तुम्ही बताओ क्या बात है—लेकिन पहले सब लोग बैठ तो जाओ !"

मालती "अब तुम बनो मत, शान्ता। कल तुम्हारे कविजी सम्मेलन में सभापति रहे, उन के कविता-पाठ की सारे शहर में धूम है—तुमने तो हमें कभी बताया ही नही कि वह कविता लिखते भी हैं ?"

सुरेश "अच्छा शान्ता भाभी, वह सारे प्रेमगीत अकेले तुम्ही को सुनाते होगे और छिपा कर रख लेते होगे ?"

सुधा "और शान्ताजी तो भला किसी को बताने क्यो लगी अपनी सूम की दौलत—"

मालती "तभी तो आज हम दल बाँध कर तुम्हे देखने आये हैं !"

शान्ता : (कुछ हँस कर) "तो मुझे क्यो देखने आयी ? मैं तो वही की वही शान्ता हूँ अनपढ, बेसमझ—मुझे तो कविता छू भी नही गयी। और वह तो इस समय यहाँ है नही, न जाने कब आयेंगे। खैर तुम लोग बैठो, वह जब भी आवें—"

मालती "नही देवी जी, यो नही। हम आप ही को देखने आये हैं, आप के दर्शन करने, आप से कविता सुनने—"

शान्ता (मानों अवाक्) "मुझ से कविता ?"

मालती "जी हाँ। आप की कविता और आप के उन की कविता। सुर से—ठीक वैसे ही जैसे 'वह' जी आप को अकेले में सुनाते होगे !"

सुधा "जी हाँ, वैसे ही।"

शान्ता "तुम लोग सब पागल हो गयी हो क्या ?"

मालती "यह लो। अभी अपने को अनपढ बता रही थी, अब हमे पागल बता रही है।"

शान्ता "मैने कहा तो, वह घर नही है, आवेगे तो कविता सुन लेना।"

सुधा "आप तो घर पर है न, यह पहले बताइये।"

शान्ता "मै घर पर न हूँगी तो और कहाँ हूँगी—उनके साथ सम्मेलनो में घूमूँगी? मुझे यह सब अच्छा नही लगता, मै यही ठीक हूँ घर में।"

सुधा "तो तुम कभी कही जाती—"

शान्ता "न, मुझे क्या करना है बाहर? यही बगीची में टहल लेती हूँ—मुझे बगीची में काम करना अच्छा लगता है।"

सुधा "बुरी बात है शान्ता! तुम एकदम बाहर ही नही निकलती—"

मालती "हाँ यह तो बहुत बुरा है। जहाँ न जाय रवि वहाँ पहुँचे कवि, और कवि की स्त्री घर से बाहर न निकले? कविप्रिया बन्दिनी होगी, यह हमने कभी नही सोचा था!

शान्ता "अब बस भी करो, मालती! बन्दिनी काहे की? वह कवि है, वह बाहर जावेंगे, मुझे घर में कम काम है?"

मालती "ओह, मै समझी! (सुधा से) बात यह है कि अगर कवि भी घर ही रहेगे तो उन की काव्य-धारा फूटेगी कैसे? प्रिया हर वक्त पास रहेगी तो कवि का चिर-विरही हिया तो चुप ही हो जायगा! और हम सभारियो की तरह प्रिया को साथ ले कर घूमे फिरेगा, सिनेमा देखेगा, तब तो उनकी कविता का स्रोत ही सूख जायगा। प्रिया को निर्वासन दे कर ही तो कवि, कवि बन सकता है—उस का जीवन बलि देकर ही काव्य-साधना कर सकता है।"

शान्ता "तुम रखो अपना पाण्डित्य। मै यह सब कुछ नही जानती।"

सुधा "अच्छा ये बहाने रहने दो अब। यह बताओ कि दिवाकर बाबू—कविजी आवेंगे कब? हम उन्ही से उनकी कविता सुन लेंगे।"

शान्ता "सो मै क्या जानू ? एक वार घर से निकले तो कब लौटेंगे यह भगवान् भी नही वता सकते। मालती कह रही थी न, जहाँ न जाय रवि, तहाँ जाय कवि ? सो रवि सुबह का निकला साँझ को घर लौटता ही है, पर कवि का क्या ठिकाना !"

मालती "तुम रूठती नही ?"

शान्ता "क्यो ? उन्हे कुछ काम रहता होगा—"

मालती "और तुम्हे कोई काम हो, कही जाना हो तो ?"

सुधा "चाय पी कर गये है ?"

शान्ता (कुछ रुक कर) "नही, चाय पी कर तो नही गये। लेकिन मैं तो घर पर ही हूँ, जब आयेंगे तभी चाय हो जायगी। मुझे तो कही जाने-आने का काम होता ही नही—यही वगीचे मे काम कर लेती हूँ, रूठने की वात ही क्या है।"

सुधा "और रात को आये तो ?"

शान्ता "तो रात को चाय होगी—भोजन देर से हो जायगा।"

सुधा "भई वाह ! मानो वच्चा हो—जो मिल जाय उसी में खुश।"

मालती "लेकिन मुझे तो भई वहुत गुस्सा आता। मै तो कभी वात भी न करती।"

शान्ता (कुछ गम्भीर होकर) "हाँ भई, तुम्हे शायद गुस्सा आता या न आता तो कम से कम दिखाती जरूर। (लम्बी साँस के साथ) लेकिन यहाँ यह सब नही चलता। मै गुस्सा करूँ तो वह दुगुना गुस्सा करेंगे। रूठा वहाँ जाता है जहाँ कोई मनाने वाला हो—जैसे माँ के साथ माँ के साथ मै भी वहुत रूठा करती थी (सहसा खिलखिला कर) दीवार के साथ और कवि के साथ भी भला रूठा जाता है ?"

सुधा "अच्छा, तुम कभी रोती नही ? जरूर रोती होगी।"

शान्ता (थोड़ी देर वाद) "रोती तो हूँ शायद। लेकिन तुम लोगो की तरह शायद नही। कोई मेरे आँसू पोछ कर मुझे मनावेगा, यह सोच

कर नही। कभी रात मे अँधेरे मे रो लेती हूँगी—अन्धकार को परचाने के लिए .. (गला भारी हो आता है)

[बालक का प्रवेश]

बालक "माँ, माँ' मै ज़रास इकल चला लूँ ?"

शान्ता (सुस्थ होकर) "नही बेटा, अब रात में—"

बालक "हाँ, माँ, यही थोडी दूर ही रहूँगा—बेयरा को साथ ले जाऊँगा—"

शान्ता "अच्छा जा ! पर दूर मत जाना।"

बालक "अहा हा—जायेंगे—जायेंगे !"

[बालक उछलता हुआ जाता है]

शान्ता (मानों स्वगत) "यह भी मेरे साथ कभी-कभी बहुत रूठना है, मै मना लेती हूँ।"

सुरेश "बडा अच्छा लडका है। शान्ता भाभी, तुम्हारा तो मन यही बहलाये रखता होगा।"

शान्ता "हाँ, सो तो है ही।"

सुधा "और जो तग करता होगा सो ?"

शान्ता "तग तो बच्चे करते ही है, पर उस से कोई तग होता थोडे ही है। मै तो सोचती हूँ, मुन्ने के कारण मुझे दुनिया के हिसाब-किताब से छुट्टी मिली—क्या पाया क्या नही पाया इस का लेखा-जोखा रखने की जरूरत नही अब मुझे। मै समझती हूँ कि जीवन जो देता है मैने पा लिया .."

मालती "कैसा हिसाब-किताब ?"

शान्ता "हिसाब-किताब नही तो और क्या ! कहने को तो यह सब भावना-आकाक्षा, मन और अध्यात्म की बातें है,लेकिन असल में तो हिसाब-किताब ही है न। कितना रग, कितना उजाला, कितना अँधेरा, कितना प्रकाश, कितनी छाया, कितना प्या—कितना आगम, कितना परिश्रम जीवन में मिला जो लोग रोमास के

पखो पर उडते है, वे भी इस हिसाब-किताब को भूलते नही। और इस जोड-बाकी मे अगर मुनाफा देखें तो खुश होते है, घाटा देखे तो जीवन के प्रति असन्तोष उन्हे होता है। गुग, तुम क्या सोचती हो मै नही जानती, पर मै तो भावना के हिडोले नही झूलती। मेरा जीवन शान्त, स्थिर हो गया है क्योकि मै प्रिया नही, माता हूँ। (स्वर क्रमश भावाविष्ट होता जाता है) मै स्नेह और आदर की अपेक्षा में रहने वाली नही, स्नेह देने वाली हूँ। मै सुबह से शाम तक जो कुछ करने का है करती जाती हूँ—जागती हूँ, उठती हूँ, खिलाती हूँ, खाती हूँ, देखती हूँ, सुनती हूँ—और मै किसी चीज का, किसी बात का प्रतिवाद नही करती। प्रतिवाद कोई किस का करे—जीवन कोई बुझौवल थोडे ही है, वह सब से पहले अनुभव है।"

सुरेश : (मानो अधिक गम्भीर बात को हँसी मे टालने का यत्न करता हुआ) "जीवन बुझौवल है कि नही, यह तो अलग बात है, पर भाभी, तुम जरूर हो।"

शान्ता . (उसी प्रकार आविष्ट) "हूँगी। जरूर हूँगी—इसी लिए कि मुझमें बुझौवल कही नही है—मैं सुलझाव ही सुलझाव रह गयी हूँ। 'दो' पहेली है जिस का सुलझाव है 'एक' और 'एक'। लेकिन 'एक'—'एक' भी पहेली है इस लिए कि उसका आगे सुलझाव नही है, वह निरी इकाई है—होने और न होने की सीमा-रेखा। उसे सुलझाना चाहने का मतलब है उसे मिटा ही देना।"

सुरेश : (प्रयास-पूर्वक विषय को बदल देने के लिए) 'शान्ता भाभी, सामने का बगीचा तो देखा, पीछे भी कुछ बना है ?।"

शान्ता · (सँभल कर, बदले हुए स्वर मे) अभी तो बन रहा है। मगर अँधेरे में दीखेगा क्या! (ज़ोर से) माली!"

माली "हाँ, माँजी! का हुकुम है माँजी ?"

शान्ता "उधर क्यारी में पानी लगा दिया है ?"

माली . "हाँ माँजी—"
शान्ता "देखोगे तुम लोग ? चलो ।"

[उधर जाते हुए स्वर]

सुधा "उधर चबूतरे के आस-पास तो बेला फूला होगा ?"
सुरेश "अहा, यह करौंदे की झाडी तो बडी सुन्दर है ! यही बैठ कर कविजी कविता लिखते होगे न ?"
शान्ता "सो मैं क्या जानूँ कि वह कहाँ बैठ कर लिखते है ? लेकिन तुम लोग तो बैठो इस चबूतरे पर ।"
सुधा "तभी तो मैंने तुम से पूछा था कि तुम तो घर पर रहती हो न ?"
मालती "फिर तुमने शुरु की वही बात ? कवि की प्रिया घर नही रहती । घर पर रहे तो वह प्रिया नही है । आज तक कभी सुना है कि किसी कवि ने प्रिया को सामने बिठा कर काव्य लिखा हो और वह काव्य सफल हुआ हो ? कवि एक अपार्थिव प्रेम का चित्र मन मे लिए उस चित्र से जीवन का मिलान करते हुए चलता है—और जीवन को घटिया पाता है । उस की एक कल्पना की प्रिया होती है जिसे वह सारी दुनिया में ढूँढता फिरता है और कभी पाता नही । जीवन में जो प्रिया मिलती है वह तो मानवी है, उस के कल्पनालोक की देवी थोडे ही है । वह देवी जो सोच सकती है—यानी कवि की कल्पना मे—वह कोई पार्थिव प्रिया नही सोचती, जो कह सकती है, जैसे-जैसे प्रेम कर सकती है, वह कोई हाड-मास की प्रिया क्या कर पायेगी ! तभी तो कवि लोग ऐसे तोता-चश्म होते है—अगर उन्हे कल्पना के प्रति सच्चे रहना है तो फिर वास्तव से तो मन फेरना ही होगा, क्योकि वास्तव तो जिस चीज़ को वह छूते है वही पाते है कि निरी मिट्टी है, और मिट्टी को ही प्यार करें तो फिर कल्पना विचारी क्या हो ? किसी भी बडे कवि का जीवन ले लो, उस की सारी जिन्दगी एक खोज है जिस का नतीजा केवल इतना है कि 'नही । यह नही । यह भी नही । यह भी नही ।' इसी कभी

न मिटने वाली खोज को, कभी न बुझनें वाली प्यास को, कोई कूँची से आँकता है, कोई कलम से लिखता है, कोई छन्दो में बांधता है, और लोग देख-सुन कर कहते है 'कितना सुन्दर! कितना मार्मिक! कैसा दिव्य प्रेम! ' कवि को जीवन में आनन्द नही मिलता पर यश तो मिलता है, उनकी कीर्ति अमर हो जाती है। पर कवि की स्त्री—मृत्यु के पार अमर होने की वात तो दूर, वह तो जीवन मे भी—"

सुधा "भई मालती, तुमने तो कमाल कर दिया। अव तो तुम्हे किसी मीटिंग में ले जा कर मच पर खडा कर देना चाहिये। ऐसी फुल-झडी-सी लगा दी तुमने तो—"

मालती "तुम्हे तो हर वक्त ठट्ठा ही सूझता है। पूछो न शान्ता से, वह भी तो हमारी तुम्हारी ही उम्र की है, कोई वात है भला कि ऐसी दार्शनिको की सी वातें करे ? "शान्त, स्थिर—होने और न होने की सीमा-रेखा! हुँ! मुझे तो ऐसा गुस्सा आ रहा है इन कवियो पर कि—"

सुरेश "सो तो दीख ही रहा है। लेकिन अव आप गुस्सा मत कीजिये, चाहे तो इस करौदे की छाँह में वैठ कर कविता कीजिये। (सुधा से) क्यो जी, अव चलना चाहिए न ?"

सुधा "हाँ, वडी देर हुई। अच्छा शान्ता वहन, फिर आयेंगे कभी—कविजी से कह देना, कविता जरूर सुनेंगे।"

सुरेश "नमस्ते, भाभी।"

शान्ता "हाँ जरूर आना, वहन। वह होगे तो जरूर सुनायेंगे ही तुम लोगो को। नमस्ते, सुरेश भैया—"

मालती "मै भी तो चल रही हूँ भई—कि मुझे छोडे जा रहे हो ?"

सुधा (हँसती हुई) "हमने सोचा शायद तुम्हारा व्याख्यान अभी समाप्त न हुआ हो!"

मालती "अच्छा शान्ता, मेरी किसी वात का गुस्सा मत करना—"

शान्ता "वाह गुस्सा कैसा। फिर आना!"

मालती "हाँ। नमस्ते!"

[जाते हैं]

शान्ता (स्वगत) "अब? (धीरे-धीरे गुनगुनाने लगती है)

"सखी मेरी नीद नसानी हो।

पिया को पन्थ निहारते सब रैन विहानी हो।

विन देखे कल ना परे, मेरी नीद नसानी हो।

सखी मेरी नीद नसानी हो—

पिया को पन्थ निहारते सब रैन विहानी हो

रैन विहानी हो।"

शान्ता (सहसा चुप होकर) "आ गये! (ज़ोर से) वैरा! चाय तैयार करो! अरे नही—(चौंक कर और फिर सुस्थ होकर) ओह, अशोक!"

अशोक "पहचानती भी नही, दीदी?"

शान्ता "मै समझी थी—"

अशोक "क्या समझी थी?"

शान्ता "कुछ नही। आओ, वैठो।"

अशोक : (वैठता है) "शान्ता दी, अँधेरे में वैठी क्या कर रही थी?"

शान्ता "कुछ नही, आकाश देख रही थी। मुझे साँझ के वाद आकाश देखना वहुत अच्छा लगता है। कैसे धीरे-धीरे अन्धकार घिरता आता है और धीरे-धीरे सब कुछ पर छा जाता है इस जीवन के, इस लोक के सब आकार मिट जाते है एक मौन निःस्तब्धता में, और फिर दूर—कितनी दूर!—उदय हो आते है कितने नये लोक और उनके अपने नये आकार! लोग सूर्यास्त के रगो को सुन्दर वताते है, लेकिन उस से भी सुन्दर होता है सूर्यास्त की भी लालिमा का मिटना—"

अशोक "रोज देखते-देखते ऊवती नही, एक ही दृश्य?"

शान्ता "ऊबना कैसा ? यह मिटने का खेल तो नित नया है—यही तो एक खेल है जो हमेशा नया है। और इसे देखते-देखते इनसान विभोर होकर अपने को निरे जीवन पर छोड देता है—हम अपने को जीवन पर छोड दे सकते हैं, तभी तो हम जी सकते हैं, उस का हल खोजना ही तो उसे पहेली बनाना है"

अशोक : "दीदी, मैं आया तब तुम शायद गा रही थीं न ? मैं सोचता हूँ, यहाँ चुपचाप बैठ कर गाना सुनूँगा।"

बेयरा "चाय तैयार है, सा'ब !"

शान्ता "लो, पहले चाय पियो।"

अशोक "दीदी, यही तो बात मुझे अच्छी नही लगती। यह भी कोई चाय का समय है भला ? और मैं कोई अजनबी तो हूँ नही जो खातिर करें—"

शान्ता "तुम्ही थोडे ही पियोगे ? मैं भी तो लूंगी—"

अशोक "उस से क्या ? रात के नौ बजे तो नौ बजे हैं। इस समय आपने मेरे लिए चाय क्यो मँगायी ?"

शान्ता "आप के लिए क्यो ? चाय का आर्डर तो मैं आप के आने से पहले दे चुकी थी।"

अशोक "ओह, तो आप लीजिये। मैं तब तक आप का आकाश देखता हूँ—मैं तो चाय लूंगा नही।"

शान्ता "नही, मैं तो चाय केवल साथ के लिए पी लेती हूँ—मुझे भी इच्छा नही है। बैरा !"

अशोक "यह अच्छी रही। आपने चाय मँगायी भी थी, और अब ले भी नही रही।"

शान्ता "मैंने अपने लिए नही मँगायी थी।"

[बेयरा आता है]

अशोक "तब ?"

बेयरा "जी, सा'ब—"

शान्ता "चाय उठा ले जाओ। और बाबा वापस आ गया है न ? साइकल अन्दर रख दिया है ?"

बेयरा "जी। बाबा सोने जाते हैं।"

[ट्रे समेट ले जाता है]

अशोक "शान्ता दीदी, आप जो गाना गा रही थी, वही गाइये।"

शान्ता "मैं क्या गाती हूँ। वह तो यों ही कभी गुनगुनाती हूँ—"

अशोक "जो हो—"

[शान्ता बाहर की ओर जाती है, आकाश की ओर देखती है। उस का स्वर दूर से आता है]

शान्ता "अच्छी बात है, मैं तो तारे देखते-देखते कभी गनगुनाया करती हूँ-- (धीरे धीरे गाती है)

"सखी मेरी नींद नसानी हो।
पिया को पन्थ निहारते सब रैन बिहानी हो।
बिन देखे कल ना परे, मेरी नींद नसानी हो।
सखी मेरी नींद नसानी हो—
पिया को पन्थ निहारते सब रैन बिहानी हो
रैन बिहानी हो "

[गाते-गाते शान्ता का गला भारी हो आता है—फिर आवाज़ सहसा टूट जाती है। एक बार गला साफ करने का शब्द, फिर एक कड़ी गाती है, फिर गला रुँधता है और वह सहसा चुप हो जाती है]

अशोक (सहसा चिन्तित) "क्या बात है, शान्ता दी—"

[बहुत हल्की-सी सिसकी का शब्द]

अशोक (धीमे, कोमल स्वर से) "शान्ता दी—"

[क्षण भर मौन]

[बाहर से निकट आता ताँगे का शब्द और घंटी]

अशोक (शान्ता को थोड़ी देर अकेले छोड़ देना उचित समझ कर बहाना ता हुआ-सा) "शान्ता दी, मैं जरा मुन्ने को देख आऊँ,

नही तो अभी सो जायगा। अभी आया।'

[बाहर दूरी पर ही कवि का शब्द, क्रमश निकट आता हुआ]

कवि : "ओह, शान्ता। मुझे अभी तत्काल फिर बाहर जाना होगा, जरा जल्दी से एक प्याला चाय दे दोगी—"

शान्ता (सँभल कर) "जी।"

[भीतर जाती हैं)

[भीतर से बालक की हँसी का शब्द]

बालक : (भीतर से) "बस, अशोक मामा, गिलगिली मत चलाइये—"

अशोक · "तो तुम बोलते क्यो नही ?"

कवि : "अरे कौन, अशोक ? (ज़ोर से) अशोक !"

अशोक : (भीतर से) "आ गये आप ?"

कवि . "अरे यहाँ आओ यार, दो मिनट गप्प ही करें, अभी तो चला जाऊँगा।"

अशोक : (निकट, विस्मित स्वर में) "कहाँ ?"

कवि "यही जरा बैठो। चाय पियोगे ?"

अशोक . "नही, इस समय नही।"

[भीतर से शान्ता के गुनगुनाने का स्वर, जो क्रमशः कुछ स्पस्ट हो जाता है]

शान्ता : (गाती है)

"सखी मेरी नीद नसानी हो
पिया को पन्थ निहारते सब रैन बिहानी हो।
ज्यो चातक घन को रटै, मछरी जिमि पानी हो।
मीरा व्याकुल बिरहनी, सुध बुध बिसरानी हो॥"

कवि . (अर्ध स्वगत) "फिर वही गाना !"

अशोक : "क्यो, आप को गाना अच्छा नही लगता ?"

कवि "नही, गाना क्यो न अच्छा लगेगा, पर शान्ता वही एक ही रोने-रोने सुर गाती है" (सहसा चुप हो जाता है)

[शान्ता का स्वर स्पष्ट हो गया है, वह पास आ रही है]

"सखी मेरी नींद नसानी हो।

पिया को पन्थ निहारते सब रैन—"

[गान सहसा बन्द हो जाता है]

शान्ता : "लीजिये, चाय !"

नही तो अभी मो जायगा । अभी आया । '

[बाहर दूरी पर ही कवि का शब्द, क्रमश. निकट आता हुआ]

कवि : "ओह, शान्ता। मुझे अभी तत्काल फिर बाहर जाना होगा, जरा जल्दी से एक प्याला चाय दे दोगी—"

शान्ता . (सँभल कर) "जी ।"

[भीतर जाती है)

[भीतर से बालक की हँसी का शब्द]

बालक : (भीतर से) "बस, अशोक मामा, गिलगिली मत चलाइये—"

अशोक "तो तुम बोलते क्यो नही ?"

कवि . "अरे कौन, अशोक ? (ज़ोर से) अशोक !"

अशोक : (भीतर से) "आ गये आप ?"

कवि . "अरे यहाँ आओ यार, दो मिनट गप्प ही करें, अभी तो चला जाऊँगा ।"

अशोक : (निकट, विस्मित स्वर में) "कहाँ ?"

कवि . "यही जरा बैठो । चाय पियोगे ?"

अशोक . "नही, इस समय नही ।"

[भीतर से शान्ता के गुनगुनाने का स्वर, जो क्रमशः कुछ स्पस्ट हो जाता है]

शान्ता · (गाती है)

"सखी मेरी नीद नसानी हो
पिया को पन्थ निहारते सब रैन बिहानी हो ।
ज्यो चातक घन को रटै, मछरी जिमि पानी हो ।
मीरा व्याकुल बिरहनी, सुध बुध बिसरानी हो ॥"

कवि : (अर्ध स्वगत) "फिर वही गाना !"

अशोक : "क्यो, आप को गाना अच्छा नही लगता ?"

कवि "नही, गाना क्यो न अच्छा लगेगा, पर शान्ता वही एक ही रोने-रोने सुर गाती है" (सहसा चुप हो जाता है)

[शान्ता का स्वर स्पष्ट हो गया है, वह पास आ रही है]

"सखी मेरी नींद नसानी हो।

पिया को पन्थ निहारते सब रैन—"

[गान सहसा बन्द हो जाता है]

शान्ता "लीजिये, चाय।"

नगा पर्वत की एक घटना

"मेरी समझ मे तो समस्या इस मे अधिक गहरी है। आप उसे जिस रूप में देख रहे है, उतनी ही बात होती तब तो कोई बात न थी।" कप्तान अर्जुन ने समर्थन के लिए कप्तान वासुदेवन् की ओर देखा।

"हाँ, फौजी जीवन आदमी को इतना अनुशासनाधीन बना देता है कि फायर का हुक्म मिलते ही वह गोली दाग देता है, उचित-अनुचित कुछ नही सोचता, यह तो कोई इतनी बडी बुराई नही है। क्योकि ऐसी डिसिप्लिन तो हम चाहते ही है, और जो चाहा जाय उसका हो जाना क्यो बुरा ?"

"पर चाहना तो बुरा हो सकता है ?" कप्तान चोपडा बोले। "क्या आदमी को ड्रिल कर-कर के ऐसा यन्त्र बना देना, कि उस की मारल जजमेंट बिल्कुल बेहोश हो जाय, बडा पाप नही है ? यही तो फ़ौजी जीवन करता है।"

"इस मे किसे इनकार है ? अपनी जजमेंट को दूसरो की जजमेंट के अधीन कर सकना सिपाहीगिरी के लिए जरूरी है। लेकिन ऐसा सिर्फ फौज में ही तो नही होता, यह तो हमे हर क्षेत्र में करना पडता है।" वासुदेवन् ने उत्तर दिया।

"और फिर यह वैसे भी किसी पेशे का दोष नहीं, यह तो मानव का ही दोष है कि वह ऐसा करना चाहता है। मानव की मारल जजमेंट की हम चाहे जितनी दुहाई दें, असल में वह इतने गहरे में मारल नही है कि इस जजमेंट को दूसरो पर छोडने में खुश न हो, उस के लिए यह जजमेंट का मामला एक गले पडी आफत है, जिसे वह जितनी जल्दी दूसरे के गले डाल सके उतना ही अच्छा। इसी लिए मै कहता हूँ कि आप समस्या को आसान कर के देख रहे है। फौज का पेशा मानव में

कोई नया ऐब पैदा नही कर देता, उस में जो महज दुर्बलता है उस से लाभ उठा कर चलता है। यह बल्कि ज्यादा बडी आलोचना है। यह क्या कम बात है कि छ हजार बरस की सम्कृति से—वासुदेवन्, छ हजार बरस ठीक है न ?—पैदा हुआ नैतिक बोध छ महीने की फौजी ड्रिल से ऐसा पस्त हो जाय कि हम बिना सोचे समझे चाहे जिसकी जान ले डालें ?"

"नही, बोध बिल्कुल तो नही मर जाता। ऐसे भी तो केस होते हैं जहाँ फौज गोली चलानें से इनकार कर देती है, जैसे सिविलियनो पर, या औरतो पर—आखिर वह नैतिक बोध ही तो होता है न ?"

"हाँ, मगर वह इसलिए कि डिसिप्लिन में ऐसे अपवाद रखे जाते हैं। शिक्षा में दुश्मन की बात सामने लायी जाती है, और आम तौर पर 'दुश्मन' का अर्थ फौजी ही लिया जाता है। बल्कि सिविलियन शत्रु नही है, या कि उसे नरमी से जीता जावे, ऐसी शिक्षा भी दी जाती है।"

"यानी आप कह रहे हैं कि अगर ट्रेनिंग में यह भी होता कि दुश्मन दुश्मन ही नही, दुश्मन के सिविलियन और औरत-बच्चे भी दुश्मन हैं, तो उन को भी मारने में फौजी को झिझक न होती ?

"बिल्कुल, और इस सभ्य लडाई में इस की मिसालें भी कम नहीं हैं। जर्मनी के कसेंट्रेशन कैम्पो में—"

"तो क्या नैतिक जजमेंट बिल्कुल मर जाता है ? मगर—"

"मरता है, या बेहोश भी होता है कि नही, पता नहीं। कहें कि स्थगित हो जाता है। या दूसरे पर टाल दिया जाता है। और टाल देना मानव-मात्र का सहज स्वभाव है, फौज का उस में कोई हाथ नहीं।"

"मेजर वर्धन, आपकी क्या राय है ?"

वासुदेवन् कुछ कहना चाहते थे। पर मेजर से प्रश्न पूछा गया था, उत्तर के लिए रुके रहे। मेजर वर्धन ने सहसा उत्तर नही दिया, अन्य अफसरो ने देखा कि वह चुपचाप आगे को झुके हुए आग की ओर स्थिर दृष्टि से देख रहे हैं। आग की लपटें जैसे-जैसे उठती-गिरती थीं, वैसे

वैसे उनके चेहरे पर एक अजीब धूप-छाँह खेल उठती थी, उन के चेहरे पर एक क्लान्ति, एक उदासीनता का भाव तो था, पर उसके पीछे जैसे कहीं एक धीर करुणा भी छिपी हुई थी, ऐसी करुणा जो जानती है कि वह अपर्याप्त है, लेकिन फिर भी हार नही मानती, जैसे निर्धन माँ, पूस-माघ की सर्दी में अपने सर्वथा अपर्याप्त फटे आँचल को बच्चे पर उढा कर, आँचल के सहारे उतना नही जितना अपनी लगन के सहारे उसे ठिठुरने से बचा लेना चाहती हो

फौज से छुट्टी पा कर ये परिचित अफसर कभी-कभी एक्स-सोल्जर्स क्लब के छोटे कमरे में आ बैठते थे। तीनो कप्तानो ने अपने को सिविलियन जीवन मे भी कप्तान कहने के अधिकार का उपयोग किया था, मेजर वर्धन अब अपनी 'मुफ्ती' 'पोशाक में 'मिस्टर वर्धन' रहना ही पसन्द करते थे पर अभ्यासवश बाकी उन्हे मेजर कह ही जाते थे

सहसा सन्नाटे में जैसे चौक कर वह बोले "मेरी राय ? मेरी राय तो तुम लोग जानते हो। असल में हम लोग युद्ध की ओर ही ध्यान दें, तो ज्यादा अच्छा है, फौजी जीवन के दोष देखने से हमारी दृष्टि स्खलित हो जाती है।"

"लेकिन क्या एक दूसरे में निहित नही है ? फौजी जीवन और युद्ध को अलग कैसे किया जाय—युद्ध के लिए ही तो फौजी जीवन है ?"

"हाँ, लेकिन यह साध्य और साधन वाले झमेले में पडना है। यह ठीक है कि साधन की भी परख होनी चाहिए, अच्छे साध्य के लिए लग कर भी बुरा साधन बुरा है। मगर असल मे तो साध्य ही बुरा है। साधन तो शायद—उतना बुरा न भी हो।"

"यानी आप नही मानते कि फौजी जीवन आदमी को नीचे खींचता है ?"

"हाँ—और नही। अनुशासन उसे मशीन—या कि सधा हुआ पशु या शिशु बनाता है, यह ठीक है। लेकिन एक तो हम इच्छा से यह परिणाम चाहते हैं, जैसा कि वासुदेवन ने कहा। दूसरे, सधा हुआ पशु

मानव मे ऐसा वुग ही है, यह दावा करना दम्भ नही है ?"

तीनो ने कुछ चौंकी हुई दृष्टि मे मेजर की ओर देखा, मानो कहना चाहते हो, "आप से ऐसी बात की आशा नही थी।"

मेजर वर्धन ने कहा "आप सोचते होगे कि मै सिनिकल हो रहा हूँ। नही। सचमुच सचे पशु के लिए मेरे मन में सम्मान है और यह भी मै मानता हूँ कि वह उतना अधिक वुरा नही हो सकता जितना कि युद्ध की परिस्थितियो मे मनुष्य हो सकता है, और मनुष्य भी कोई विकृत मन वाला खूंखार प्राणी नही, सीधा-सादा, भाई-बहिन, जोरू-बच्चो के बीच रहने वाला, दस से छ तक दफ्तर में—या छ से दस तक खेत में—खटने वाला अत्यन्त मामूली मनुष्य, जैसे कि फौजी आम तौर पर होते हैं। इसी लिए जहाँ आदमी पशु बन जाता हैं, वहाँ मैं उसे उतना खतरनाक नही मानता। फ़ौज की डिसिप्लिन केवल इतना करती है इस से वदतर कुछ नही। लेकिन युद्ध "

"यह तो ठीक है कि युद्ध जो करता है, वह फौजी जीवन नहीं करता। मगर युद्ध से आदमी के गुण भी तो उभरते हैं " चौपड़ा ने कहा।

"हाँ, वैसा भी होता है। और यह भी होता है कि जिन के गुण उभरते है वे आगे जा कर मर जाते है, और जिन के ऐब उभरते है वे जान बचा कर घर लौटते है। 'हतो वा प्राप्यमे स्वर्गम्' आज भी उतना ही सच है, मगर 'जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्'—न मालूम! वल्कि जयी आजकल क्या भोगता है, कोई कह नही सकता।"

"लेकिन आप यह क्यो कहते हैं कि मनुष्य पशु से वदतर हो जाता है ?"

"यो तो 'मनुष्य जब पशु होता है तब पशु से वदतर होता है' ..यह आपने सुना ही है। क्योकि पशु पशु हो कर अपने पद पर है, और मनुष्य अपदस्थ, पतित। मगर आप को इस पर आपत्ति क्यो है ? यह वताइये कि जब आप कहते है कि मनुष्य सधा हुआ पशु है, तब

आप का अभिप्राय क्या होता है ?"

कप्तान अर्जुन धीरे-धीरे बोले "यही कि वह अपना विवेक छोड़ कर सिर्फ अनुशासन पर चलता है ..हुक्म दो 'गोली मारो' तो गोली मार देगा, 'आग में कूदो' तो आग मे कूद पडेगा। कभी झिझक भी हो सकती है, डर से, पर अगर पशु ठीक सधा है तो डर रहते भी कूद पडेगा।"

"और अनुशासन से डर को दबाने के कारण ही फौज मे इतने मेटल केस होते हैं—" चोपडा ने दाद दी।

"हाँ। ठीक है। तो सधा हुआ मानव-पशु अपनी सहज इच्छा या विवेक के ऊपर दूसरे की इच्छा या विवेक को मान कर उस के अनुसार चलता है। यानी मानव का जो अपने विवेक को अमल में लाने का कर्तव्य है, उसे वह—चलिये, ताक मे रख देता है कुछ काल के लिए। यह फौजी अनुशासन की देन है। पर अगर वह पशु अनुशासन के नाम पर अपने नैतिक बोध को, सदसद्विवेक को ताक में रख दे, और फिर सहज पशु प्रवृत्ति की झोंक में अनुशासन को भी भुला दे . तब ? तब तो वह पशु से बदतर है न ?"

वासुदेवन् ने तनिक मुस्करा कर कहा "पशु-प्रवृत्ति में बहने वाला तो पशु ही हुआ, पशु से बदतर कैसे कहेंगे—"

"हाँ, मगर सधा हुआ पशु वह नही है, और हम यह मान ले रहे हैं कि अशिक्षित पशु शिक्षित पशु से बुरा है। और युद्ध फौज के शिक्षित पशु को अशिक्षित बना देता है।"

वासुदेवन् ने बात को हल्का करने के लिए कहा, "बर्न्स ने कालेज की शिक्षा की बुराई तो की है, पर फौजी शिक्षा की ओर उस का ध्यान नहीं गया।"

चोपडा ने दिलचस्पी से पूछा, "क्या प्रसग है यह ?"

"वह है न—कि अहम्मन्य मूर्ख कालेजो में अपना दिमाग़ खराब

करते है—दाखिल होते है वछेडे लेकिन निकलते है पूरे गधे—" ❀

"हॉ !" कह कर चोपडा ने ठहाका लगाया ।

"मगर एक बात है, वर्न्स ने पशु को और घटिया पशु वनाया, मनुष्य को पशु नही ।"

"हॉ, क्योकि वह कालेज की पढाई की वात थी—उम मे इस से ज्यादा ताकत नही है । मगर जग—" मेजर वर्धन ने फिर वातावरण गम्भीर कर दिया । फिर मानो उन्हे स्वय ध्यान आया कि क्लव के सामाजिक वातावरण को हल्का ही रहना चाचिए, और वह सहसा चुप हो गये ।

कप्तान चोपडा थोडी देर उन्हे देखते रहे, मानो सोच रहे हो कि उस मौन को तोडना उचित है या नही । फिर उन्होने पूछ ही डाला, "मेजर वर्धन, आप की वात से मै पूरी तरह कनविंस तो नही हुआ, मगर ऐसा लगता है कि आप किसी घटना के प्रणाम से ऐसा कह रहे है । और घटनाओ का तर्क भी एक अलग तर्क है ही ।"

कप्तान अर्जुन भी वढावा देते हुए वोले, "और अपने ढग का अकाट्य तर्क । सुनाइये, हम सव सुन रहे है ।"

मेजर वर्धन ने एक वार तीनो की ओर देखा, फिर एक स्थिर दृष्टि से आग की ओर देख कर वोले, "हॉ, घटना का अपना अलग तर्क होता है । जो घटना अभी मेरे ध्यान में आयी थी, वह मेरी वात की पुष्टि करती है या नही, न जानें, मगर उसको समझा जा सकता है तो उसी के भीतरी तर्क के आधार पर, नही तो इनसान ऐसा अनरीजनेवल कैसे हो सकता है समझ नही आता । आखिर पशु-वुद्धि भी तो वुद्धि है—"

❀ A set of dull conceited hashes
Confuse their brains in college classes,
They gang in stirks and come out asses
—Robert Burns

थोडी देर सन्नाटा रहा। चारो आग की ओर देखते रहे। मेजर वर्धन के चेहरे की रेखाएँ कडी हो आयी, मानो उन की स्थिर दृष्टि आग में कुछ देख रही हो और निश्चलता के जोर से उसे पकडे रहना चाहती हो फिर उनकी मुद्रा तनिक-सी पसीजती जान पडी, मानो बात कहने का ही निश्चय कर के उन्हे कुछ तसल्ली मिली हो।

"बात कोहीमा की है। यानी ठीक कोहीमा की नही, कोहीमा और जसामी के बीच के इलाके की डि-चुड् के पार जो खुमनुवाटो का शिखर और जगल है, वही की। मै कोहीमा की इस लिए कहता हूँ कि मै तब ३३ डिवीजन के साथ कोहीमा और जुबजा के बीच डिव हेडक्वाटर में पडा हुआ था।" वह क्षण भर रुके, फिर कहने लगे, "वासुदेवन्, तुम तो आगे थे—और अर्जुन तो डीमापुर में रहे—यह तो तुम्हें मालूम है कि मैं डीमापुर मे इटलिजेंस के लिए आगे गया था—"

"हाँ, वह तो ऐसा गुपचुप कुछ काम था कि हम सब को बडा कौतूहल रहा। फिर हम ने सोच लिया कि कोहीमा के पार जापानी लाइन के पीछे जासूसी करने जा रहे हैं। यह तो हमें मालूम था कि नगा स्काउटो की एक टोली तैयार हुई है, और यह भी सुना था कि उन के कुछ जवान आप के साथ जावेंगे—"

"हाँ, था तो गुपचुप ही। बल्कि जो बात बताने जा रहा हूँ, वह भी उसी दर्जे की है—टॉप सीक्रेट। और अगर वह मेरा या हिन्दुस्तानी फ़ौज का सीक्रेट रहा होता तो मैं शायद अब भी उस की बात न करता—पता नही अब भी वह कहानी कहना फौजी कानून के खिलाफ है कि नहीं। पर जो हो, सुन कर तुम लोग खुद तय करना कि आगे कही जाय या नहीं। मुझे तो यह बात अचानक ही एक अमरीकन कर्नल से पता लगी—हालांकि थी शुरू में वह मेरी ही बात।"

"आप हमें भटकाने के लिए पहेलियाँ बुझा रहे है ?"

"नही। तुम्हे मालूम है, उन दिनों जापानियो के साथ बहुत से आज़ाद हिन्दी भी शामिल हो गये थे, इस ने अँग्रेजो के मन में बडा डर

वैठा हुआ था। भेद-भाव तो यो भी था, पर इस डर से इटलिजेंस के वहुत से काम सिर्फ अग्रेजो-अमरीकनो को सौपे जा रहे थे, भले ही हिन्दुस्तानी उस के लिए ज्यादा उपयुक्त हो। मै भी जो नगा जासूसो के साथ गया, तो मेरे साथ एक अमरीकी कर्नल भी था, अमरीकी इटेलिजेंस का, जो जापानी भाषा भी जानता था। और हम गये भी उस इलाके में, जिधर सिर्फ जापानी थे—कोहीमा से उत्तर तेहेंम-त्सेमिन्यू वाले इलाके मे। दक्षिण में जहाँ यह ख्याल था कि जापानियो के साथ हिन्दी भी है वहाँ किसी हिन्दुस्तानी को नही भेजा गया—उधर सब ब्रिटिश अफसर थे।"

"हाँ।"

"तो इस इलाके मे भटकते हुए मुझे एक वात सूझी। उधर का जगल ऐसा दुर्गम था, और अगामी नगा जातियो के इलाके में ऐसी खेती-पट्टी कुछ होती नही कि जापानी लोग लूट-खसोट कर खाते रह और टिके रहे। आये तो वे इसी भरोसे थे कि पहले लूट-पाट कर खाते रहेगे, फिर डीमापुर पर कब्जा हो जायगा तो वहाँ ढेरो रसद जमा होगी ही—हम आखिरी वक्त तक उसे बचाने का लोभ जरूर करेंगे। तो मुझे यह सूझा कि नगा पहाडियो में नगे तो कन्द-मूल और वूटियाँ खाकर रह भी लें, जापानी तो ये सब वातें जानेगा नही, जब नगा गाँवो का थोडा वहुत चावल और वकरी-कुत्ते खा चुकेगा तब भूखे पेट वडी जल्दी डिमारलाइज होगा। और वैसे अर्ध-बर्बर का हौसला जब गिरता है तो धीरे-धीरे फिसलता नही, एक दम नीचे आता है। ऐसे मे अगर उस मे यह प्रचार किया जाय कि वह आत्म-समर्पण कर दे तो उस की जान भी वचेगी और खाना भी मिलेगा, तो—"

"हाँ, विकट लडका था जापानी। पकडा नही जाता था—मरता था या आत्मघात कर लेता था। मैने एक वार पाँच-छ कैदी जापानी देखे—वैसा पस्त जन्तु मैने कभी नही देखा होगा! उन की आँख नहीं उठती थी। उन्हे कैद का दुख नही था, यह था कि वह आत्मघात न कर

गये, कभी हमारे टैंक बढे तो कोहीमा के परले मोड तक बढते गये, मगर मोड से मुडते ही पार की पहाडी से ऐसे ज़ोर की गोला-बारी होती कि बस। तो हुआ यह कि बीच में कोहीमा कस्बे की पहाडियो पर न वे न हम, उधर परली पहाडी में ऊपर नगा बस्ती में जापानी, इधर जुब्जा के आगे की जगल-ढकी पहाडी पर हम। और मैं यह सोचता रहा कि जी एच क्यू वाले इतनी देर कर रहे हैं—अमल करने का वक्त तो फिर निकल जायगा। अन्त में मैंने जनरल को कहा कि याद दिलावें।"

"एक महीना तो बहुत होता है सचमुच—"

"रिमाइंडर का जवाब चौथे दिन आ गया।" मेजर वर्धन ने तनिक रुक कर साथियो की ओर देखा। चोपडा ने कुछ अधैर्य से कहा, "क्या ?"

"कहा गया कि यह योजना 'आइडिया ब्राच' को भेज दी गयी है। वहाँ उस पर विचार हो जायगा, हमें आगे याद दिलाने या पूछने की जरूरत नही है।"

"यह खूब रही !"

"और दो हफ्ते हो गये। अन्त में मैंने समझ लिया कि मेरी योजना व्यावहारिक नही समझी गयी। मैंने भी उसे मन से निकाल दिया। इस बीच उस अमरीकी कर्नल से अलग भी हो गया था—डीमापुर वापस बुलाये जाकर वह किसी दूसरे और भी गुपचुप मिशन पर भेज दिया गया था, और मैं ३३ डिव के साथ कर दिया गया था, एडवास के लिए इलाके की जानकारी उन्हे देने के लिये। ३३ डिव पूरा गोरा डिव था—लडाके अच्छे मगर नगा पर्वत के भूगोल और नगा जाति के मामले में बिल्कुल सिफर। लेकिन डिव का हरावल जब कोहीमा में घुसा, और दो-तीन दिन मे मुर्दों को हटा कर उस मटियामेट ढूह में हम ने किरमिच के बासे खडे कर लिय, तो हमने पाया कि इधर डीमापुर से एक अमरीकी अस्पताली टोली आयी और इधर ऊपर से बीस-एक नगा बाँको को साथ लिये वही अमरीकी कर्नल। मुझे मालूम हुआ कि वह पहले तो

वह तब था जब तुमने बताया था, उस से ज्यादा सीक्रेट अब हो गया है—क्योंकि—वह आज़माया जा चुका—'

"मैं मन्नाटे में आ गया। कब ? '—और—असफल हुआ।'

"मैंने पूछा, 'आप को कैसे मालूम है ?' बोला, 'वही मेरा हश-हश मिशन था।' "

तीनो श्रोताओ ने चौंक कर कहा, "रीयेली, मेजर वर्धन! ऐसी बात थी !"

"हाँ। मैं हक्का-बक्का एक मिनट उस की ओर देखता रहा। फिर मैंने कहा, "मेरी कुछ समझ मे नही आया, कर्नल। शुरू से कहिये।"

"वह कहने लगा, 'हाँ शुरू से ही कहता हूँ। वैसे शुरू तो तुम्ही जानते हो, तुम जो सोच रहे हो कि आइडिया ब्राच वाले गुम हो कर बैठ रहे, वह बात नही थी। लेकिन—' वह थोडा-सा झिझका लेकिन मैं उसका भाव ताड गया। मैंने कहा, 'ओह, मैं समझा। शायद उन्होंने सोचा कि इस आइडिया की जांच हिन्दुस्तानी को नही सौंपनी चाहिए। यही न ?'

" 'हाँ, मुझे डर है कि यही। जो हो, मुझे यही आज्ञा मिली। इधर से तो मोकोक्चङ् गया, वहाँ आदेश मिला। उधर से जो फौजे आगे बढ रही थी, सब ब्रिटिश ही थी, थोडी सी अमरीकी टुकडियाँ थी, बस। उन के साथ बढते हुए हम साटाखा से नीचे खुइ-बी पहुँचे, खुइ-बी के पास ही खुमनुवाटो शिखर है और उस की ढाल पर भारी जगल। दूसरी पार जुलहामी में और साथाजूमी मे जापानी थे, यह हमें मालूम था, पर जगल मे अजीब खिचडी थी। कही हमारी खाइयाँ, कही दुश्मन की, हमें तो कुछ पता न लगता पर वे अगामी जवान तो जैसे हवा सूँघ कर दुश्मन पहचानते थे, उन्ही के भरोसे हम बढते थे। यानी आइडिया की जाँच के लिए वह आइडियल जगह थी।'

"मेरा कुतूहल बढता जा रहा था। मैंने पूछा, 'फिर जाँच हुई ?'

"हाँ, हुई।' उसने कहा, फिर कुछ सोचते हुए, 'मगर कैसी जाँच!

या तो खैर बहुत ठीक जगह थी। इधर जहाँ हमने लाउडस्पीकर फिट किये, वहाँ टामियो की खाई थी। दो कम्पनियाँ सात दिन से उस खाई मे थी चा- दिन से बारिश होती रही रही थी और उनकी हालत ऐसी हो रही थी कि कुछ पूछो मत। तुम्हे तो कुछ खुद ही अनुभव है—कह कर वह थोडा हँस दिया, क्योंकि कीचड से लदफद कही रुक कर सब कपडे उतार कर जोकें ढूँढने का काम हम साथ कर चुके थे। मच्छरसे तो मच्छर क्रीम बचा लेती, पर कीचड और जोक से बचाव नही था। फिर उसने कहना शुरू किया, "टामियो की हालत देख कर मैने उन्हे बताया कि हम जापानियो को सरेंडर करने को कहने वाले है—मैने सोचा कि इससे उन के जी और हारे हुए मन को कुछ सहारा मिलेगा। सात दिन मे वहाँ पडे-पडे उनका खाना-पीना-सोना सब खाई में ही हो रहा था, इतने दिन में उन्हे एक भी जापानी नही दीखा था। लेकिन बाहर निकल कर आगे बढने या झाँकने की भी सख्त मनाही थी क्योंकि यह सब जानते थे कि सामने बहुत पास दुश्मन है। जापानी की घात में बैठे सड रहे है, पर जापानी है कि दीख कर नही देता, यही हाल था। उधर जापानियो का भी ठीक यही हाल होगा, यह तय बात थी। बल्कि बदतर, क्योंकि हमारी लाइन में कम से कम रसद-पट्टी तो ठीक-ठीक थी, और वे कम-बख्त खाने-पीने से भी लाचार थे—उनकी सप्लाई सर्विस ही नही थी। मैंने लाउडस्पीकर लगा दिये, और एकाएक पूरे जोर से जापानी मे ब्राड-कास्ट शुरू हो गया।'

"मैने पूछा, 'फिर ? क्या असर हुआ ?' वह बोला, 'पहले तो आवाज होते ही जोरो से मशीन गनो से गोलियो की बौछार हुई। इतना इमकान ही था, हम ने खाई मे दूर-दूर दो-तीन लाउडस्पीकर लगाये थे, कभी कोई बोलता था कभी कोई। फिर धीरे-धीरे बौछार कुछ मद्धिम पडी, मानो अनमनी-सी हो गयी—जैसे वे बीच-बीच में सुन रहे हो। हमने और जोरो से चिल्लाना शुरू किया—तुम हार गये, तुम्हारी मौत निश्चित है, गोली से नही तो भूख और बीमारी से,

जोको से खून चुसवाना सिपाही का काम नही है, हथियार डाल कर कर इधर चले आओ! इधर तुम्हारी जान भी बचेगी, भाइयो से छुट्टी भी मिलेगी, अच्छा खाना मिलेगा—जो आत्म-समर्पण करेगा उसकी प्राण-रक्षा की हम शपथ लेते है, वगैरह। इधर कम्पनी कमाडरो को बता दिया गया था कि जो जापानी आत्म-समर्पण करने आये—निहत्थे या हाथ उठा कर—उन्हे आने दिया जाय, बन्दी कर के आराम से रखा जाय, और फिर उन्ही से आगे ब्राडकास्ट कराया जाय।"

मेजर बर्धन साँस लेने रुके। फिर उन्होने जैसे जागते हुए पूछा. "तुम लोगो का क्या ख्याल है—अपील का क्या असर हुआ ?"

वासुदेवन् ने कहा, "मेरी समझ में तो असर होना चाहिए था—पर आप तो बता चुके है कि वह नाकामयाब हुई थी।"

मेजर बर्धन फीकी हँसी हँसे। "हाँ, असर हुआ, ज़ोरो का असर हुआ। नाकामयाब वह अपील नही—मेरी योजना हुई थी।"

तीनो प्रतीक्षा में चुप रहे। मेजर बर्धन फिर कहने लगे। "कर्नल मोज ने—यही उस अमरीकी का नाम था—मुझे बताया, एक घटे के हुल्लड के बाद राइफले ऊपर उठाये दो सौ जापानी सहसा खाई में से निकल आये और आगे बढने लगे। मुझे स्वप्न में भी उम्मीद नही थी कि इतनी जल्दी इतना असर होगा—बाद में मालूम हुआ कि सामने की खाई में कुल इतने ही आदमी थे दो-तीन अफसरो ने आत्म-समर्पण का विरोध किया था पर उनको जापानियो ने मार डाला और बाकी पीछे भाग गये दूसरी खाई में—जापानी जगल की ओट से निकल कर सामने दीखने लगे।

"मैं ने कहा, 'यह तो आश्चर्य-जनक सफलता रही!' वह बोला,'हाँ या कि रहती।' और चुप हो गया। मैंने पूछा, 'क्या मतलब ?' तो थोडा रुक कर बोला, 'जैसे ही उनकी मटमैली हरी वर्दी जगल की हरियाली से अलग पहचानी गयी, और मैंने खुशी से भर कर कहा कि देखो, वह आ रहे है, वैसे ही एक अनहोनी घटी। टामियो की पूरी कतार ने

विना हुक्म के वल्कि हुक्म के खिलाफ, खट् से सव-मशीन-गनें उठायी श्रौर दनादन दाग दी ।'

"मैंने कहा, 'हैं ?' श्रौर कर्नल की श्रोर देखता रह गया। उसने स्थिर दृष्टि मे मेरी श्रोर देखते हुए कहा, 'हाँ। शिस्त लेने की वात ही नही थी, पूरी कनार सामने थी, अभी मै समझ भी नही सका था कि हुआ क्या, कि सव जापानी चित हो गये—दो सौ के दो सौ। वहुत से तो एक सांस भी न खींच पाये होंगे, कुछ एक-ग्राध वार कराह सके, दो-एक सिर्फ जख्मी हुए थे श्रौर वाद में ग्रस्पताल मे मरे । पर उस वक्त सव साफ हो गया।'

"मैंने पूछा, 'मगर यह हुश्रा कैसे ?' वह वोला 'अव कैसे क्या वताऊँ। ब्रिटिश आर्मी की डिसिप्लिन वहुत अच्छी है, सव से अच्छी। मगर स्थिति की कल्पना करो वैसे में जापानी की भावना पर भी गोली दाग देना एक श्राटोमैटिक ऐक्शन था वह हुक्म श्रदूली है, यह किसी के ध्यान में नही श्राया होगा। श्रौर विश्वासघात है, यह तो किसी को सूझा भी नही होगा।' वह थोडी देर चुप रहा। फिर वोला, 'लेकिन—इस तरह योजना फेल कर गयी—दुवारा मौका नही मिला। हमने फिर भी कोशिश की, मगर विश्वास उठ गया था। हर श्रपील पर श्रौर ज़ोर की वौछार होती, हमारे लाउडस्पीकर भी उडा दिये गये। हमारी रिपोर्ट पर कमाड से हुक्म श्राया कि श्राइडिया ठप्प है, श्रौर इस प्रयोग का कहीं जिक्र न किया जाय।' मै सुन कर चुप रह गया मेरे श्राइडिया का क्या हुश्रा था, मेरी समझ में श्रा गया।"

मेजर वर्मन चुप हो गये। तीनो साथी थोडी देर तक प्रतीक्षा करते रहे, फिर वासुदेवन् ने कहा, "मै सोचता हूँ, उन जापानियो के मन की क्या हालत रही होगी उस वक्त।"

अर्जुन ने वात काट कर कहा, "उन की ही क्यो, टामियो की मानसिक अवस्था भी स्टडी के लायक रही होगी—उस वक्त भी, श्रौर फ़ौरन भी जव उन्हें मालूम हुश्रा होगा कि अपनी वेवकूफी ने ही लडाई हुई

लम्बी हो गयी—या कम से कम उनकी मुसीबत—"

मेजर वर्धन ने कहा, "हाँ। जापानियो के मन की हालत की कल्पना कम मुश्किल है। टामियो की अधिक मुश्किल।"

सहसा चोपडा ने कहा, "लेकिन मेजर, अगर कहानी इतनी ही है तो इस का हमारी बहस मे क्या सम्बन्ध है ?"

वर्धन ने मानो बात न सुनी हो, अपनी है बात के सिलसिले में वह कहते गये, "लेकिन कल्पना ज्यादा मुश्किल इस लिए नही, है कि हम टामियो के मन की हालत कम जानते है और जापानियो की अधिक। बल्कि इस से उल्टा। जहाँ ज्ञान कम होता है वहाँ कल्पना सहज होती है टामियो की मनोदशा की कल्पना इस लिए मुश्किल है कि हम उसे ठीक-ठीक जानते हैं—एक दम ठीक, अलजेब्रा को इक्वेशन की तरह।"

चोपडा ने आग्रह किया, "यह तो और पहेली है। लेकिन हमारी बहस—"

मेजर वर्धन ने कहा, "ओ, हाँ, हमारी बहस ! हाँ, जो जापानी आये वे—पशु थे, सधे हुए पशु, यन्त्र की अपील थी, सुनने वाला भी यन्त्र था—विवेक सोया या मरा या स्थगित जो कह लो था, भूख, नीद, सूखे कपडे की आस, प्राणो का आश्वासन ये उस पशु को खीच लाये। ठीक है न ?"

"वैसी परिस्थिति में आत्म-समर्पण अस्वाभाविक तो नही है—"

"वही तो। वही तो। एक दम स्वाभाविक है। इसी लिए तो मैं कह रहा हूँ, पशुवत्, विवेक से परे। लेकिन टामियो का कर्म—वह-तो सधे हुए पशु का नही था ? उसे क्या कहोगे ?"

सब थोडी देर चुप रहे। फिर मेजर वर्धन ने ही कहा "स्वाभाविक वह भी था—इसलिए पशु-कर्म उसे भी कह सकते हैं। लेकिन अनुशासन से उसका कोई सम्बन्ध नही था, और प्राण-रक्षा से भी नही था कि-प्राण रक्षा वाला पशुतर्क वहाँ लगाया जा सके।"

"यान्त्रिक तो उस कर्म को कह सकते है —जैसे आँख के पास छकु

आने से आंख झपकती है हमारे बिना चाहे, वैसे ही यह भी अनैच्छिक—

"हां—और आंख के झपकने को आप डिसिपिलन से नही दबा सकते, है न ? अगर इस तरह गोली दाग देने को आप उस लेवल पर ले जा रहे हैं, तब तो मुझ से भी आगे जा रहे है मुझे और कुछ कहना नही है। फौजी जीवन में आदमी विवेक छोड कर अनुशासन के सहारे चलता है, और युद्ध का दबाव उसे अनुशासन से भी परे ले जाता है—उस स्थिति को मैं क्या नाम दूं ?"

थोडी देर चुप रह कर मेजर वर्धन उठ खडे हुए । खडे-खडे बोले, "उस के लिए नाम नही है। मेरा ख्याल है कि नाम जिस भाषा में होता वह भाषा हम लोग नही जानते।"

तीनों ने कौतूहल से उन की ओर देखा। वह फिर कहने लगे, "हमारी भाषा—यह विवेक की भाषा—बस्ती-गाव की भाषा है। पशु की भाषा उस का अर्थहीन चीखना-चिल्लाना है—उस में अर्थ नही है पर अभिप्राय हो सकता है। उस अभिप्राय को समझने के लिए हमें दो-चार-छ-आठ या चलो बीस हजार बरस की संस्कृति को भूलना यथेष्ट है। मगर जिस भाषा में जगल में पेड पेड-से बोलता है, पत्ती-पत्ती मर्मर कर उठती है—उस भाषा को क्या हम जानते है ? जान सकते है ? उसे समझने के लिए हज़ारो बरस की सांस्कृतिक परम्परा को नही, लाखो-करोडो बरस की जैविक परम्परा को भी भूलना ज़रूरी है। आदम-हौवा के युग में नही, कच्छ, मछली और सूअर के अवतारो के युग में जाना जरूरी है—सूअर के दांत पर जो धरती टॅगी हुई थी—बल्कि उस में भी नही, वह सूअर जिस कीच में खडा था उस में।"

मेजर वर्धन का स्वर आविष्ट था, उसकी गरमी तीनों साथियो को छू रही थी। मगर अँगीठी की आग ठंडी पड गयी थी, मेजर का चेहरा अँधेरे में था, और तीनो एक हल्की-सी सिरहन से कांप गये।

गैंग्रीन

दोपहर मे उस सूने आँगन मे पैर रखते ही मुझे ऐसा जान पडा, मानो उस पर किसी शाप की छाया मँडरा रही हो, उस के वातावरण मे कुछ ऐसा अकथ्य, अस्पृश्य, किन्तु फिर भी बोझल और प्रकम्पमय और घना-सा फैल रहा था

मेरी आहट सुनते ही मालती बाहर निकली। मुझे देख कर, पहचान कर उस की मुरझायी हुई मुख-मुद्रा तनिक से मीठे विस्मय मे जागी-सी और फिर पूर्ववत् हो गयी। उसने कहा, "आ जाओ।" और बिना उत्तर की प्रतीक्षा किये भीतर की ओर चली। मै भी उस के पीछे हो लिया।

भीतर पहुँच कर मैने पूछा, "वे यहाँ नही है ?"

"अभी आये नही, दफ्तर में है। थोडी देर में आ जायेंगे। कोई डेढ-दो बजे आया करते है।"

"कब के गये हुए है ?"

"सवेरे उठते ही चले जाते है ..."

मै "हूँ" कह कर पूछने को हुआ, "और तुम इतनी देर क्या करती हो ?" पर फिर सोचा आते ही एकाएक प्रश्न ठीक नही है। मै कमरे के चारो ओर देखने लगा।

मालती एक पंखा उठा लायी, और मुझे हवा करने लगी। मैने आपत्ति करते हुए कहा, "नही, मुझे नही चाहिए।" पर वह नही मानी, बोली, "वाह। चाहिए कैसे नही ? इतनी धूप में तो आये हो। यहा तो ..."

मैने कहा, "अच्छा लाओ मुझे दे दो।"

वह शायद 'ना' करने वाली थी, पर तभी दूसरे कमरे से शिशु के रोने की आवाज सुन कर उसने चुपचाप पंखा मुझे दे दिया और

घुटनो पर हाथ टेक कर एक थकी हुई 'हुँह' कर के उठी और भीतर चली गयी।

मैं उस के जाते हुए, दुबले शरीर को देख कर सोचता रहा—यह क्या है यह कैसी छाया-सी इस घर पर छायी हुई है

मालती मेरी दूर के रिश्ते की वहन है, किन्तु उसे सखी कहना ही उचित है, क्योकि हमारा परस्पर सम्बन्ध सख्य का ही रहा है, हम बचपन से इकट्ठ खेले है, इकट्ठे लडे और पिटे हैं, और हमारी पढाई भी बहुत-सी इकट्ठे ही हुई थी, और हमारे व्यवहार में सदा सख्य की स्वेच्छा और स्वच्छन्दता रही है, वह कभी भ्रातृत्व के, या बड-छोटेपन के बन्धनो में नही घिरा

मैं आज कोई चार वर्ष बाद उसे देखने आया हूँ। जब मैंने उसे इस से पूर्व देखा था, तब वह लडकी ही थी, अब वह विवाहिता है, एक बच्चे की माँ भी है। इस से कोई परिवर्तन उस में आया होगा और यदि आया होगा तो क्या, यह मैंने अभी तक सोचा नही था, किन्तु अब उस की पीठ की ओर देखता हुआ मैं सोच रहा था, यह कैसी छाया इस घर पर छायी हुई है और विशेषतया मालती पर

मालती बच्चे को ले कर लौट आयी और फिर मुझ से कुछ दूर नीचे बिछी हुई दरी पर बैठ गयी, मैंने अपनी कुर्सी घुमा कर कुछ उस की ओर उन्मुख होकर पूछा, "इस का नाम क्या है ?"

मालती ने बच्चे की ओर देखते हुए उत्तर दिया, "नाम तो कोई निश्चित नही किया, वैसे टिटी कटते है।"

मैंने उसे बुलाया, "टिटी, टिटी, आजा," "पर वह अपनी बडी-बडी आँखो से मेरी ओर देखता हुआ अपनी माँ से चिपट गया, और रुआँसा-सा हो कर कहने लगा "उहुँ-उहुँ-उहुँ-ऊँ "

मालती ने फिर उस की ओर एक नजर देखा, और फिर बाहर आँगन की ओर देखनें लगी

काफी देर मौन रहा। थोडी देर तक तो यह मौन आकस्मिक ही था,

शिशु को अलग कर के उठी और किवाड खोलने गयी।

वे, यानी मालती के पति आये, मैंने उन्हे पहली वार देखा था, यद्यपि फोटो से उन्हे पहचानता था। परिचय हुआ। मालती खाना तैयार करने आँगन में चली गयी, और हम दोनो भीतर बैठ कर बात-चीत करने लगे, उनकी नौकरी के बारे में, उन के जीवन के बारे में, उस स्थान के बारे में, और ऐसे अन्य विषयो के बारे में जो पहले परिचय पर उठा करते है, एक तरह का स्वरक्षात्मक कवच बन कर

मालती के पति का नाम है महेश्वर। वह एक पहाडी गांव में सरकारी डिस्पेन्सरी के डाक्टर है, उसी हैसियत से इन क्वार्टरो मे रहते है। प्रात काल सात बजे डिस्पेन्सरी चले जाते है और डेढ या दो बजे लौटते है, उस के बाद दोपहर भर छुट्टी रहती है, केवल शाम को एक-दो घटे फिर चक्कर लगाने के लिये जाते है, डिस्पेन्सरी के साथ के छोटे से अस्पताल में पडे हुए रोगियो को देखने और अन्य जरूरी हिदायतें करने उन का जीवन भी बिल्कुल एक निर्दिप्ट ढर्रे पर चलता है, नित्य वही काम, उसी प्रकार के मरीज, वही हिदायतें, वही नुस्खे, वही दवा-इयाँ वह स्वय उकताये हुये है, और इस लिए और साथ ही इस भयकर गर्मी के कारण वह अपने फुरसत के समय में भी सुस्त ही रहते है

मालती हम दोनो के लिए खाना ले आयी। मैंने पूछा, "तुम नहीं खाओगी ? या खा चुकी ?"

महेश्वर बोले, कुछ हँस कर, "वह पीछे खाया करती है "

पति ढाई बजे खाना खाने आते है, इस लिए पत्नी तीन बजे तक भूखी बैठी रहेगी !

महेश्वर खाना आरम्भ करते हुए मेरी ओर देख कर बोले, "आप को तो खाने का मजा क्या ही आयेगा, ऐसे बेवक्त खा रहे है ?"

मैंने उत्तर दिया, "वाह। देर से खाने पर तो और भी अच्छा लगता है, भूख बढ़ी हुई होती है, पर शायद मालती बहन को कष्ट होगा।"

मालती टोक कर बोली, "ऊँहु,मेरे लिए तो यह नयी बात नहीं है रोज ही ऐसा होता है "

मालती बच्चे को गोद मे लिये हुए थी। बच्चा रो रहा था, पर उस की ओर कोई भी ध्यान नही दे रहा था।

मैंने कहा "यह रोता क्यो है ?"

मालती बोली "हो ही गया है चिड़चिड़ा-सा, हमेशा ही ऐसा रहता है।" फिर बच्चे को डाट कर कहा, "चुप कर।" जिस से वह और भी रोने लगा, मालती ने भूमि पर बैठा दिया और बोली "अच्छा ले, रो ले।" और रोटी लेने आँगन की ओर चली गयी।

जब हमने भोजन समाप्त किया तब तीन बजने वाले थे, महेश्वर ने बताया कि उन्हे आज जल्दी अस्पताल जाना है, वहाँ एक दो चिन्ताजनक केस आये हुए है, जिनका आपरेशन करना पडेगा दो की शायद टाँग काटनी पडे, गैंग्रीन हो गया है थोडी ही देर में वह चले गये। मालती किवाड़ बन्द कर आयी और मेरे पास बैठने ही लगी थी कि मैंने कहा, "अब खाना तो खा लो, मैं उतनी देर टिटी से खेलता हूँ।"

वह बोली, "खा लूँगी, मेरे खाने की कौन बात है," किन्तु चली गयी। मै टिटी को हाथ मे ले कर झुलाने लगा, जिस से वह कुछ देर के लिए शान्त हो गया।

दूर शायद अस्पताल मे ही, तीन खड़के। एकाएक मैं चौंका, मैंने सुना, मालती वही आँगन मे बैठी अपने-आप ही एक लम्बी-सी थकी हुई साँस के साथ कह रही है, "तीन बज गये " मानो बड़ी तपस्या के बाद कोई कार्य सम्पन्न हो गया हो

थोडी ही देर मे मालती फिर आ गयी, मैंने पूछा, 'तुम्हारे लिए कुछ बचा भी था ? सब कुछ तो "

"बहुत था।"

"हाँ, बहुत था, भाजी तो सारी मैं ही खा गया था, वहाँ बचा कुछ

होगा नहीं, यों ही रौब तो न जमाओ कि बहुत था।" मैंने हँस कर कहा।

मालती मानो किसी और विषय की बात कहती हुई बोली, "यहाँ सब्जी-वब्जी तो कुछ होती नहीं, कोई आता-जाता है, तो नीचे से मँगा लेते हैं, मुझे आये पन्द्रह दिन हुए हैं, जो सब्जी साथ लाये थे वही अभी बरती जा रही है "

मैंने पूछा, "नौकर कोई नहीं है ?"

"कोई ठीक मिला नहीं, शायद दो-एक दिन में हो जाय।"

"बर्तन भी तो तुम्हीं माजती हो ?"

"और कौन ?" कह कर मालती क्षण भर आँगन में जाकर लौट आयी ।

मैंने पूछा, "कहाँ गयी थी ?"

"आज पानी ही नहीं है, बर्तन कैसे मँजेंगे ?"

"क्यों पानी को क्या हुआ ?"

"रोज ही होता है कभी वक्त पर तो आता नहीं, आज शाम को सात बज आयेगा, तब बर्तन मँजेंग।"

"चलो तुम्हें सात बजे तक तो छुट्टी हुई," कहते हुए मैं मन ही मन सोचने लगा, "अब इसे रात के ग्यारह बजे तक काम करना पड़ेगा, छुट्टी क्या खाक हुई ?"

यही उसने कहा। मेरे पास कोई उत्तर नहीं था, पर मेरी सहायता टिटी ने की, एकाएक फिर रोने लगा और मालती के पास जाने की चेष्टा करने लगा। मैंने उसे दे दिया।

थोड़ी देर फिर मौन रहा, मैंनें जेब से अपनी नोटबुक निकाली और पिछले दिनों के लिखे हुए नोट देखने लगा, तब मालती को याद आया कि उसने मेरे आने का कारण तो पूछा नहीं, और बोली, "यहाँ आये कैसे ?"

"नहीं, बिल्कुल नहीं थका।"

"रहने भी दो, थके नहीं, भला थके है ?"

"और तुम क्या करोगी ?"

"मैं बर्तन माँज रखती हूँ, पानी आयेगा तो धुल जायँगे।"

मैंने कहा, "वाह !" क्योंकि और कोई बात मुझे सूझी नहीं

थोडी देर मे मालती उठी और चली गयी, टिटी को साथ ले कर। तब मैं भी लेट गया और छत की ओर देखने लगा मेरे विचारो के साथ आँगन से आती हुई बर्तनो के घिसने की खन-खन ध्वनि मिल कर एक विचित्र एकस्वर उत्पन्न करने लगी, जिसके कारण मेरे अग धीरे-धीरे ढीले पडने लगे, मैं ऊँघने लगा

एकाएक वह एकस्वर टूट गया मौन हो गया। इस से मेरी तन्द्रा भी टूटी, मैं उस मौन में सुनने लगा

चार खडक रहे थे और इसी का पहला घटा सुन कर मालती रुक गयी थी

वही तीन बजे वाली बात मैंने फिर देखी, अब की बार और भी उग्र रूप में। मैंने सुना, मालती एक बिल्कुल अनैच्छिक, अनुभूतिहीन, नीरस यन्त्रवत्—वह भी थके हुए यन्त्र की भाँति स्वर में कह रही है, "चार बज गये " मानो इस अनैच्छिक समय गिनने-गिनने में ही उस का मशीन-तुल्य जीवन बीतता हो, वैसे ही, जैसे मोटर का स्पीडोमीटर यन्त्र-वत् फासला नापता जाता है, और यन्त्रवत् विश्रान्त स्वर मे कहता है (किस से !) कि मैंने अपने अमित शून्यपथ का इतना अश तय कर लिया

न जाने कब, कैसे मुझे नींद आ गयी

तब छ कभी के बज चुके थे, जब किसी के आने की आहट से मेरी नींद खुली, और मैंने देखा कि महेश्वर लौट आये है, और उन के साथ ही बिस्तर लिये हुए मेरा कुली। मैं मुँह धोने को पानी माँगने को ही था कि मुझे याद आया, पानी नहीं होगा। मैंने हाथो से मुँह पोछते-पोछते महेश्वर से पूछा, "आपने बडी देर की ?"

उन्होने किंचित ग्लानि-भरे स्वर मे कहा, "हाँ, आज वह ग्रैंग्रीन का आपरेशन करना ही पडा, एक कर आया हूँ, दूसरे को एम्बुलेन्स मे वडे अस्पताल भिजवा दिया है।"

मैंने पूछा, "ग्रैंग्रीन कैसे हो गया ?"

"एक काँटा चुभा था, उसी मे हो गया, वडे लापरवाह लोग होते हं यहाँ के "

मैंने पूछा, "यहाँ आप को केस अच्छे मिल जाते है ? आय के लिहाज से नही, डाक्टरी के अभ्यास के लिए ?"

वोले, "हाँ, मिल ही जाते है, यही ग्रैंगीन, हर दूसरे-चौथे दिन एक केस आ जाता है, नीचे वडे अस्पतालो मे भी "

मालती आँगन मे ही सुन रही थी, अव आ गयी, वोली, 'हाँ, केस वनाते देर क्या लगती है ? काटा चुभा था, इस पर टाँग काटनी पडे, यह भी कोई डाक्टरी है ? हर दूसरे दिन किसी की टाँग, किसी की वाँह काट आते हैं, इसी का नाम है अच्छा अभ्यास !"

महेश्वर हँसे, वोले, "न काटे तो उस की जान गवाये ?"

"हाँ, पहले तो दुनिया मे काँटे ही नही होते होगे ? आज तक तो सुना नही था कि काँटो के चुभने से मर जाते हो "

महेश्वर ने उत्तर नही दिया, मुस्करा दिये, मालती मेरी ओर देख कर वोली, "ऐसे ही होते है डाक्टर, सरकारी अस्पताल है न, क्या परवाह है। म तो रोज ही ऐसी वातें सुनती हूँ। अव कोई मर-मु र जाय तो ख्याल ही नही होता। पहले तो रात रात-भर नीद नही आया करती थी।"

तभी आँगन मे खुले हुए नल ने कहा टिप, टिप, टिप, टिप-टिप,-टिप

मालती ने कहा, "पानी" और उठ कर चली गयी। खन खनाहट से हमने जाना, वर्तन धोये जाने लगे है

टिटी महेश्वर की टाँगो के सहारे खडा मेरी ओर देख रहा था,

अब एकाएक उन्हे छोड कर मालती की ओर खिसकता हुआ चला। महेश्वर न कहा, "उधर मत जा !" और उसे गोद में उठा लिया, वह मचलने और चिल्ला-चिल्ला कर रोने लगा ।

महेश्वर बोले " अब रो-रो कर सो जायगा, तभी घर में चैन होगी ।"

मैंने पूछा, "आप लोग भीतर ही सोते है ? गर्मी तो बहुत होती है ?"

"होने को तो मच्छर भी बहुत होते हैं, पर यह लोहे के पलग उठा कर बाहर कौन ले जाये ? अब के नीचे जायेंगे तो चारपाइयाँ ले आयेंगे ।" फिर कुछ रुकर बोले, आज तो बाहर ही सोयेंगे । आपके आने का इतना लाभ ही होगा ।"

टिटी अभी तक रोता ही जा रहा था । महेश्वर ने उसे एक पलग पर बिठा दिया, और पलग बाहर खीचने लगे, मैंने कहा, "मैं मदद करता हूँ," ओर दूसरी ओर से पलग उठा कर निकलवा दिये ।

अब हम तीनो महेश्वर, टिटी और मैं, दो पलगो पर बैठ गये और वार्तालाप के लिए उपयुक्त विषय न पा कर उस कमी को छुपाने के लिए टिटी से खेलने लगे, बाहर आ कर वह कुछ चुप हो गया था, किन्तु बीच-बीच में जैसे एकाएक कोई भूला हुआ कर्तव्य याद कर के रो उठता था और फिर एकदम चुप हो जाता था और कभी-कभी हम हँस पडते थे, या महेश्वर उसके बारे में कुछ बात कह देते थे

मालती बर्तन धो चुकी थी । जब वह उन्हे लेकर आँगन के एक ओर रसोई के छप्पर की ओर चली, तब महेश्वर ने कहा, "थोडे से आम लाया हूँ, वह भी धो लेना ।"

"कहाँ हैं ?"

"अँगीठी पर रखे हं, कागज मे लिपटे हुए।"

मालती ने भीतर जाकर आम उठाये और अपने आँचल में डाल लिये । जिस कागज में वे लिपटे हुए थे वह किसी पुराने [illegible] का

टुकडा था। मालती चलती-चलती सन्ध्या के उस क्षीण प्रकाश मे उसी को पढती जा रही थी वह नल के पास जाकर खडी उसे पढती रही, जब दोनो ओर पढ चुकी, तब एक लम्बी सांस ले कर उसे फेक कर आम धोने लगी।

मुझे एकाएक याद आया बहुत दिनो की बात थी जब हम अभी स्कूल में भर्ती हुए ही थे। जब हमारा सब से बडा सुख, सब मे बडी विजय थी हाजिरी हो चुकने के बाद चोरी मे क्लास से निकल भागना और स्कूल मे कुछ दूरी पर आम के बगीचे मे पेडो पर चढ कर कच्ची अमियाँ तोड-तोड खाना। मुझे याद आया कभी जब मैं भाग आता और मालती नही आ पाती थी तब मैं भी खिन्न-मन लौट आया करता था

मालती कुछ नही पढती थी, उसके माता-पिता तंग थे, एक दिन उस के पिता ने उसे एक पुस्तक लाकर दी और कहा कि इस के बीस पेज रोज पढा करो, हफ्ते भर बाद मैं देखूँ कि इसे समाप्त कर चुकी हो, नही तो मार-मार कर चमडी उधेड दूँगा। मालती ने चुपचाप किताब ले ली, पर क्या उसने पढी ? वह नित्य ही उस के दस पन्ने, बीस पेज, फाड कर फेंक देती, अपने खेल में किसी भांति फर्क न पडने देती। जब आठवें दिन उस के पिता ने पूछा, "किताब समाप्त कर ली ?" तो उत्तर दिया "हां, कर ली," पिता ने कहा। "लाओ, मैं प्रश्न पूछूँगा"" तो चुप खडी रही। पिता ने फिर कहा, तो उद्धत स्वर में बोली, "किताब मैंने फाड कर फेंक दी है, मै नही पढूंगी।"

उस के बाद वह बहुत पिटी, पर वह अलग बात है इस समय मैं यही सोच रहा था कि वही उद्धत और चचल मालती आज कितनी सीधी हो गयी है, कितनी शान्त, और एक अखबार के टुकडे को तरसती है यह क्या, यह

तभी महेश्वर ने पूछा, "रोटी कब बनेगी ?"

"बस अभी बनाती हूँ।"

पर अब की बार जब मालती रसोई की ओर चली, तब टिटी की कर्तव्य-भावना बहुत विस्तीर्ण हो गयी, वह मालती की ओर हाथ बढा कर रोने लगा और नही माना, मालती उसे भी गोद में लेकर चली गयी, रसोई में बैठ कर हाथ से उसे थपकने और दूसरे से कई एक छोटे-छोटे डिब्बे उठा कर अपने सामने रखने लगी

और हम दोनो चुपचाप रात्रि की, और भोजन की, और एक दूसरे के कुछ कहने की, और न जाने किस-किस न्यूनता की पूर्ति की प्रतीक्षा करने लगे।

हम भोजन कर चुके थे और बिस्तरो पर लेट गये थे और टिटी सो गया था। मालती उसे पलग के एक ओर मोमजामा बिछा कर उसे उस पर लिटा गयी थी। वह सो गया था, पर नींद मे कभी-कभी चौंक उठता था। एक बार तो उठ कर बैठ भी गया था, पर तुरन्त ही लेट गया।

मैं ने महेश्वर से पूछा "आप तो थके होंगे, सो जाइये।"

वे बोले, "थके तो आप अधिक होंगे अठारह मील पैदल चल कर आये है। "किन्तु उन के स्वर ने मानो जोड दिया "थका तो मैं भी हूँ।"

मैं चुप रहा, थोडी देर में किसी अपर सज्ञा ने मुझे बताया, वे ऊँघ रहे है।

तब लगभग साढे दस बजे थे, मालती भोजन कर रही थी।

मैं थोडी देर मालती की ओर देखता रहा, वह किसी विचार में—यद्यपि बहुत गहरे विचार में नही लीन हुई धीरे-धीरे खाना खा रही थी, फिर म इधर उधर खिसक कर, पलग पर आराम से होकर, आकाश की ओर देखने लगा।

पूर्णिमा थी, आकाश अनभ्र था।

मैंनें देखा उस सरकारी क्वार्टर की दिन में अत्यन्त शुष्क और नीरस लगने वाली स्लेट की छत भी चांदनी में चमक रही है, अथवा

मालती ने रोते हुए शिशु को मुझ से लेने के लिए हाथ बढ़ाते हुए कहा, "इसके चोटें लगती ही रहती है, रोज ही गिर पडता है।"

एक छोटे क्षण भर के लिए मैं स्तब्ध हो गया, फिर एकाएक मेरे मन ने, मेरे समूचे अस्तित्व ने, विद्रोह के स्वर में कहा कहा मेरे मन ने भीतर ही, बाहर एक शब्द भी नही निकला "मां,युवती मां, यह तुम्हारे हृदय को क्या हो गया है, जो तुम अपने एकमात्र बच्चे के गिरने पर ऐसी बात कह सकती हो और यह अभी, जब तुम्हारा सारा जीवन तुम्हारे आगे है!

और, तब एकाएक मैंने जाना कि वह भावना मिथ्या नही है, मैंने देखा कि सचमुच उस कुटुम्ब में कोई गहरी भयकर छाया घर कर गयी है, उनके जीवन के इस पहले ही यौवन में घुन की तरह लग गयी है, उसका इतना अभिन्न अग हो गयी है कि वे उसे पहचानते ही नही, उसी की परिधि में घिरे हुए चले जा रहे हैं। इतना ही नही, मैंने उस छाया को देख भी लिया

इतनी देर में, पूर्ववत् शान्ति हो गयी थी। महेश्वर फिर लेट कर ऊँघ रहे थे। टिटी मालती के लेटे हुए शरीर से चिपट कर चुप हो गया था, यद्यपि कभी एक-आध सिसकी उस के छोटे से शरीर को हिला देती थी। मै भी अनुभव करने लगा था कि बिस्तर अच्छा-सा लग रहा है। मालती चुपचाप ऊपर आकाश में देख रही थी, किन्तु क्या चन्द्रिका को या तारो को?

तभी ग्यारह का घटा बजा, मैंनें अपनी भारी हो रही पलकें उठा कर अकस्मात् किसी अस्पष्ट प्रतीक्षा से मालती की ओर देखा। ग्यारह के पहले घटे की खडकन के साथ ही मालती की छाती एकाएक फफोले की भाँति उठी और धीरे-धीरे बैठने लगी, और घटा-ध्वनि के कम्पन के साथ ही मूक हो जाने वाली आवाज में उस ने कहा, "ग्यारह बज गये "

मेजर चौधरी की वापसी

किसी की टाँग टूट जाती है, तो साधारणतया उसे बधाई का पात्र नहीं माना जाता। लेकिन मेजर चौधरी जब छः सप्ताह अस्पताल में काट कर बैसाखियों के सहारे लड़खड़ाते हुए बाहर निकले, और बाहर निकल कर उन्होंने मिज़ाजपुर्सी के लिए आये हुए अफसरों को बताया कि उनको चार सप्ताह की 'वार लीव' के साथ उन्हें छः सप्ताह की 'कम्पैशनेट लीव'[1] भी मिली है, और उस के बाद ही शायद कुछ और छुट्टी के अनन्तर उन्हें सैनिक नौकरी से छुटकारा मिल जायगा, तब सुनने वालों के मन में अवश्य ही ईर्ष्या की लहर दौड़ गयी थी। क्योंकि मोकोक्चङ् यों सब-डिवीज़न का केन्द्र क्यों न हो, वैसे वह नगा पार्वत्य जंगलों का ही एक हिस्सा था, और जोंक, दलदल, मच्छर, चूती छतें, कीचड़ फर्श पीने का उबाला जाने पर भी गँदला पानी और खाने को पानी में भिगो कर ताजे किये गये सूखे आलू-प्याज़—ये सब चीज़ें ऐसी नहीं हैं कि दूसरों के सुख-दुःख के प्रति सहज औदार्य की भावना को जाग्रत करें।

मैं स्वयं मोकोक्चङ् में नहीं, वहाँ से तीस मील नीचे मरियानी में रहता था, जो कि रेल की पक्की सड़क द्वारा सेवित छावनी थी। मोकोक्चङ् अपनी सामग्री और उपकरणों के लिए मरियानी पर निर्भर था, इस लिए मैं जब-तब एक दिन के लिए मोकोक्चङ् जाकर वहाँ की अवस्था देख आया करता था। नागाचारी चार-आली[2] ने आगे रास्ता बहुत ही खराब है और गाड़ी कीचड़-काँदो में फँस-फँस जाती है, किन्तु उस प्रदेश की आबनूसी नगा जाति के हँसमुख चेहरों और साहाय्य-तत्पर व्यवहार के कारण वह जोखम बुरी नहीं लगती।

---

[1]—सम्वेदना-जन्य छुट्टी। [2]—चार-आली = चौड़ा रास्ता, आली असमिया में सड़क को कहते हैं।

मुझे तो मरियानी लौटना था ही, मेजर चौधरी भी मेरे साथ ही चले—मरियानी से रेल द्वारा वह गोहाटी होते हुए कलकत्ते जायेंगे और वहाँ से अपने घर पश्चिम को

स्टेशन-वैगन चलाते-चलाते मैंने पूछा, "मेजर साहब, घर लौटते हुए कैसा लगता है ?" और फिर इस डर से कि कही मेरा प्रश्न उन्हे कष्ट ही न दे, "आप के इम—इस एक्सिडेंट से अवश्य ही इस प्रत्यागमन पर एक छाया पड गयी है, पर फिर भी घर तो घर है—"

अस्पताल के छ हफ्ते मनुष्य के मन में गहरा परिवर्तन कर देते है, यह अचानक तब जाना जब मेजर चौधरी ने कुछ सोचते-से उत्तर दिया, "हाँ, घर तो घर ही है। पर जो एक बार घर मे जाता है, वह लौट कर भी घर लौटता ही है, इस का क्या ठिकाना ?"

मैंने तीखी दृष्टि से उन की ओर देखा। कौन-सा गोपन दुःख उन्हें खा रहा है—'घर' की स्मृति को लेकर कौन-सा वेदना का ठूंठ इन की विचार-धारा में अवरोध पैदा कर रहा है ? पर मैंने कुछ कहा नही, प्रतीक्षा में रहा कि कुछ और कहेंगे।

देर तक मौन रहा, गाडी नाकाचारी की लीक मे उचकती-धचकती चलती रही।

थोडी देर बाद मेजर चौधरी फिर धीरे-धीरे कहने लगे "देखो, प्रधान, फौज में जो भरती होते हैं न जाने क्या-क्या सोच कर, किस-किस आशा से। कोई-कोई अभागा आशा से नही, निराशा से भी भरती होता है, और लौटने की कल्पना नही करता। लेकिन जो लौटने की बात सोचते है—और प्राय सभी सोचते हैं—वे मेरी तरह लौटने की बात नही सोचते—"

उन का स्वर मुझे चुभ गया। मैंने सान्त्वना के स्वर में कहा, "नहीं मेजर चौधरी इतने हतधैर्य आपको नही—"

"मुझे कह लेने दो, प्रधान !"

मैं रुक गया।

"मेरी जांघ और कूल्हे में चोट लगी थी, अब मैं सेना के काम का न रहा पर आजीवन लँगड़ा रह कर भी वैसे चलने-फिरने लगूंगा, यह तुमने अस्पताल में सुना है। सिविल जीवन में कई पेशे है जो मैं कर सकता हूँ। इस लिए घबराने की कोई बात नही। ठीक है न ? पर—" मेजर चौधरी फिर रुक गये और मैंने लक्ष्य किया कि आगे की बात कहने में उन्हे कष्ट हो रहा है, "पर—चोटें ऐसी भी होती हैं—जिनका इलाज—नही होता "

मैं चुपचाप सुनता रहा।

"भरती होने से साल भर पहले मेरी शादी हुई थी। तीन साल होगये। हम लोग साथ लगभग नही रहे—वैसी सुविधाएँ नही हुई। हमारी कोई सन्तान नही है।"

फिर मौन। क्या मेरी ओर से कुछ अपेक्षित है ? किन्तु किसी आन्तरिक व्यथा की बात अगर वह कहना चाहते हैं, तो मौन ही सहायक हो सकता है, वही प्रोत्साहन है।

"सोचता हूँ, दाम्पत्य-जीवन में शुरू म—इतनी—कोमलता न बरती होती! कहते हैं कि स्त्री-पुरुष में पहले सख्य आना चाहिये—मानसिक अनुकूलता—"

मैंने कनखियों से उनकी तरफ देखा। सीधे देखने से स्वीकारी अन्तरात्मा की खुलती सीपी खट् से बन्द हो जाया करती है। उन्हें कहने दूँ।

पर उन्होंने जो कहा उस के लिए मैं बिल्कुल तैयार नही था और अगर उन के कहने के ढग में ही इतनी गहरी वेदना न होती तो जो शब्द कहे गये थे उनसे पूरा व्यजनार्थ भी मैं न पा सकता

"हमारी कोई सन्तान नही है। और अब—जिस से आगे कुछ नहीं है वह सख्य भी कैसे हो सकता है ? उसे—एक सन्तान का ही सहारा होता कुछ नही! प्रधान, यह 'कम्पैशनेट लीव' अच्छा मजाक है—कम्पैशन भगवान् को छोड़ कर और कौन दे सकता है और मृत्यु के

अलावा होना कहाँ है ? अब इति में आरम्भ है। घर।" कुछ रुक कर, "वापसी। घर।"

मैं सन्न रह गया। कुछ बोल न सका। थोडी देर बाद ताक कर देखा कि गाडी की चाल अपने-आप बहुत धीमी हो गयी है, इतनी कि तीसरे गीयर, पर वह झटके दे रही है। मैंने कुछ सँभल कर गीयर बदला, और फिर गाडी तेज कर के एकाग्र हो कर चलानें लगा—नहीं, एकाग्र होकर नही, एकाग्र दीखता हुआ।

तब मेजर चौधरी एक बार अपना सिर झटके से हिला कर मानो उस विचारशृंखला को तोडते हुए सीधे होकर बैठ गये। थोडी देर बाद उन्होंने कहा, "क्षमा करना, प्रधान, मैं शायद अनकहनी कह गया। तुम्हारे प्रश्नो के लिए तैयार नही था—"

मैंने रुकते-रुकते कहा—"मेजर, मेरे पास शब्द नही है कि कुछ कहूँ—"

"कहोगे क्या, प्रधान ? कुछ बातें शब्दो से परे होती हैं—शायद कल्पना से भी परे होती है। क्या मैं भी जानता हूँ कि—कि घर लौट कर मैं क्या अनुभव करूँगा ? छोडो इसे। तुम्हे याद है, पिछले साल मै कुछ महीने मिलिटरी पुलिस मे चला गया था ?"

मैंने जाना कि मेजर विषय बदलना चाह रहे हैं। पूरी दिलचस्पी के साथ बोला, "हाँ-हाँ। वह अनुभव भी अजीब रहा होगा।"

"हाँ। तभी की एक बात अचानक याद आयी है। मै शिलग में प्रोवोस्ट मार्शल[1] के दफ्तर मे था। तब—वें डिवीजन की कुछ गोरी पल्टनें वहाँ विश्राम और नये सामान के लिए बर्मा से लौट कर आयी थी।"

"हाँ, मझे याद है। उन लोगो ने कुछ उपद्रव भी वहाँ मचा दिया था—"

१—सैनिक पुलिस का उच्चाधिकारी प्रावोस्ट मार्शल कहलाता है।

"काफी ! एक रात मैं जीप लिये गश्त पर जा रहा था। हैपी वली की छावनी मे जो सडक शिलग बस्ती को आती है वह बडी टेढी-मेढी और उतार-चढाव की है और चीड के झुरमुटो से छायी हुई, यह तो तुम जानते हो। मैं एक मोड से निकला ही था कि मुझे लगा कुछ चीज रास्ते से उछल कर एक ओर को दुबक गयी है। गीदड-लोमडी इधर बहुत हैं, पर उन की फलाँग ऐसी अनाडी नही होती, इस लिए मैं रुक गया। झुरमुटो के किनारे खोजते हुए मैंने देखा, एक गोरा फौजी छिपना चाह रहा है। छिपना चाहता है तो अवश्य अपराधी है, यह सोच कर मैंने उसे ज़रा धमकाया और नाम, नम्बर, पल्टन आदि का पता लिख लिया। वह बिना पास के रात को बाहर तो था ही, पूछने पर उसने बताया कि वह एक मील और नीचे नाङ्-लिम्-माई की बस्ती को जा रहा था। इस से आगे का प्रश्न मैंने नही पूछा—उन प्रश्नो का उत्तर तुम जानते ही हो और पूछ कर फिर कडा दंड देना पडता है जो के अधिकारी नही चाहते—जब तक कि खुल्लमखुल्ला कोई बडा स्कैंडल न हो।"

हूँ। मैंने तो सुना है कि यथा-सम्भव अनदेखी की जाती है ऐसी बातो की। बल्कि कोई वेश्यालय मे पकडा जाय और उस की पेशी हो तो असली अपराध के लिए नही होती, वर्दी ठीक न पहनने या अफसर की अवज्ञा या ऐसे ही किसी जुर्म के लिए होती है।"

"ठीक ही सुना है तुमने। असली अपराध के लिए ही हुआ करे तो अव्वल तो चालान इतने हो कि सेना बदनाम हो जाय, दूसरे इस का असर फौजियो पर भी तो उलटा पडे—उनका दिमाग हर वक्त उधर ही लगा करे। खैर। उस दिन तो मैंने उसे डाँट-डपट कर छोड दिया। पर दो दिन बाद फिर एक अजीब परिस्थिति मे उस का सामना हुआ।"

"वह कैसे ?"

"उस दिन मैं अधिक देर कर के जा रहा था। आधी रात होगी, गश्त पर जाते हुए उसी जगह के आस-पास मैंने एक चीख सुनी। गाडी

रोक कर मैने वत्ती वुझा दी और टार्च ले कर एक पुलिया की ओर गया जिधर से आवाज़ आयी थी। मेरा अनुमान ठीक ही था, पुलिया के नीचे एक पहाडी औरत गुस्से से भरी खडी थी, और कुछ दूर पर एक अस्तव्यस्त गोरा फौजी, जिस की टोपी और पेटी ज़मीन पर पडी थी और वुश शर्ट हाथ मे। मैने नीचे उतर कर डॉट कर पूछा, 'यह क्या है ?" पर तभी मैने उस फौजी की आँखो मे देख कर पहचाना कि एक तो वह परसो वाला व्यक्ति है, दूसरे वह काफी नशे मे है। मैने और भी कडे स्वर मे पूछा, 'तुम्हे शरम नही आती ? क्या कर रहे थे तुम ?'

"वह वोला, 'यहमेरी है।'

"मैने कहा, 'वको मत !' और उस औरत से कहा कि वह चली जाय। पर वह ठिठकी रही। मैने उस से पूछा, 'जाती क्यो नही ?' तब वह कुछ सहमी-सी वोली, 'मेरे रुपय ले दो।' "

"काफी वेशर्म ही रही होगी वह भी !"

"हॉ, मामला अजीव ही था। दोनो को डॉटने पर दोनो ने जो टूटे-फूटे वाक्य कहे उस से यह समझ में आया कि दो-तीन घटे पहले वह गोरा एक वार उस औरत के पास हो गया था और फिर आगे गॉव की तरफ चला गया था। लौट कर फिर उसे वह रास्ते मे मिली तो गोरे ने उसे पकड लिया था। झगडा इसी वात का था कि गोरे का कहना था, वह रात के पैसे दे चुका है, और औरत का दावा था कि पिछला हिसाव चुकता था, और अव फौजी उस का देनदार है ! मैने उसे धमका कर चलता किया, पहले तो वह गालियाँ देने लगी पर जव उसने देखा कि गोरा भी गिरफ्तार हो गया है तो वडवडाती चली गयी।"

"फिर गोरे का क्या हुआ ? उसे तो कडी सज़ा मिलनी चाहिये थी ?"

मेजर चौधरी थोडी देर तक चुप रहे। फिर वोले, "नही, प्रधान, उसे सज़ा नहीं मिली। मालूम नही वह मेरी भूल थी या नही, पर जीप में ले आने के घटा भर वाद मैने उसे छोड दिया।"

मैंने अचानक कहा, "वाह, क्यों ?" फिर यह सोच कर कि यह प्रश्न कुछ अशिष्ट-सा हो गया है, मैंने फिर कहा, "कुछ विशेष कारण रहा होगा—"

"कारण ? हाँ, कारण था शायद। यह तो इस पर है कि कारण कहते किसे हैं। मैंने जैसे छोडा वह बताता हूँ।"

मैं प्रतीक्षा करता रहा। मेजर कहने लगे, "उसे मैं जीप में ले आया। थोडी देर टार्च का प्रकाश उस के चेहरे पर डाल कर घूरता रहा कि वह और जरा सहम जाय। तब मैंने कडक कर पूछा, 'तुम्हे शरम नही आयी अपनी फौज का और ब्रिटेन का नाम कलकित करते ? अभी परसों मैंने तुम्हे पकडा था और माफ कर दिया था।' मेरे स्वर का उस के नशे पर कुछ असर हुआ। जरा सँभल कर बोला, 'सर, मैं कुछ बुरा नही करना चाहता था—' मैंने फिर डाँटा, 'सडक पर एक औरत को पकडते हो और कहते हो कि बुरा करना नही चाहते थे ?' वह बगल झाँकने लगा, पर फिर भी सफाई देता हुआ-सा बोला, 'सर, वह अच्छी औरत नही है। वह रुपया लेती है—मैं तीन दिन से रोज़ उस के पास आता हूँ।' मैंने सोचा, बेहयाई इतनी हो तो कोई क्या करे ? पर इस टामी जन्तु में जन्तु का-सा सीधापन भी है जो ऐसी बात कर रहा है। मैंने कहा, 'और तुम तो अपने को बडा अच्छा आदमी समझते होगे न, एकदम स्वर्ग से भरा हुआ फरिश्ता ?' वह वैसे ही बोला, 'नही सर, लेकिन—लेकिन—'

"मैंने कहा, लेकिन क्या ? तुमने अपनी पल्टन का और अपना मुँह काला किया है, और कुछ नही।' तभी मुझे उस औरत की बात याद आई कि वह कुछ घंटे पहले उसके पास हो गया था, और मेरा गुस्सा फिर भडक उठा। मैंने उस से कहा, 'थोडी देर पहले तुम एक बार बच कर चले भी गये थे, उस से तुम्हे सन्तोष नही हुआ ? आगे गाँव में कहाँ गये थे ? एक बार काफी नही था !'

"अब तक वह कुछ और सँभल गया था। बोला '

की है। लेकिन—लेकिन मैं अपने साथियों से बराबर होना चाहता हूँ–'

"मैंने चौंक कर कहा, 'क्या मतलब ?' "

"वह बोला, 'हमारा डिवीज़न छ हफ्ते हुए यहाँ आ गया था, आप जानते हैं। डेढ़ साल से हम लोग फ्रंट पर थे जहाँ औरत का नाम नहीं खाली मच्छड़ और कीचड़ और पेचिश होती है। वहाँ से मेरी पल्टन छ हफ्ते पहले लौटी थी, पर मैं एक ब्रेकडाउन टुकड़ी के साथ पीछे रह गया था।'

" 'तो फिर ?' मैंने पूछा।"

"बोला, 'डिवीज़न में मेरी पल्टन सब से पहले यहाँ आयी थी, बाकी पल्टनें पीछे आयी। छ हफ्ते से वे लोग यहाँ हैं, और मैं कुल परसों आया हूँ और दस दिन में हम लोग वापस चले जायेंगे।' "

"मैंने डाँटा, 'तुम्हारा मतलब क्या है ?' उसने फिर धीरे-धीरे जैसे मुझे समझाते हुए कहा, 'सारे शिलंग के गाँवों की, नेटिव बस्तियों की छाँट उन्होंने की है। मैं केवल परसों आया हूँ और दस दिन हम और रहना है। मैं उन के बराबर होना चाहता हूँ, किसी—से पीछे मैं नहीं रहना चाहता।' "

मेजर चौधरी चुप हो गये। मैं भी कुछ देर चुप रहा। फिर मैंने कहा, "क्या दलील है! ऐसा विकृत तर्क वह कर कैसे सका—नशे का ही असर रहा होगा। फिर आपने क्या किया ?"

"मैं मानता हूँ कि तर्क विकृत है। पर उसे पेश कर सकने में मानुष्य से नीचे के निरे मानव-जन्तु का साहस है, बल्कि साहस भी नहीं, निरी जन्तु-बुद्धि है, और इस लिए उस पर विचार भी उसी तल पर होना चाहिये ऐसा मुझे लगा। समझ लो जन्तु ने जन्तु को माफ कर दिया। बल्कि यह कहना चाहिए कि जन्तु ने जन्तु को अपराधी ही नहीं पाया।" कुछ रुक कर वह कहते गये "यह भी मुझे लगा कि व्यक्ति में ऐसी भावना पैदा करने वाली सामूहिक मनस्थिति ही हो सकती है, और यदि ऐसा, तो समूह को ही न्यायी मानना चाहिये।"

स्टेशन वैगन हचकोले खाता हुआ बढता रहा। मैं कुछ बोला नही। मेजर चौधरी ने कहा, "तुमने कुछ कहा नही। शायद तुम समझते हो कि मैंने भूल की, इसी लिए चुप हो। पर वैसा कह भी दो तो मैं बुरा न मानूं—मेरा बिल्कुल दावा नही है कि मैंने ठीक किया।"

मैंने कहा, "नहीं, इतना आसान तो नही है कुछ कह देना—" और चुप लगा गया। अपने अनुभव की भी एक घटना मुझे याद आयी, उसे मन ही मन दुहराता रहा। फिर मैंने कहा, 'एक ऐसी ही घटना मुझे भी याद आती है—"

'क्या?"

'उसमे ऐसा तीखापन तो नही है, पर जन्तु-तर्क की बात वहां भी लागू होती। एक दिन जोरहाट मे क्लब में एक भारतीय नृत्य-मंडली आयी थी—हम लोग सब देखने गये थे। उस मंडली को और आगे लीडो रोड की तरफ जाना था, इस लिए उसे एक ट्रक मे बिठाकर मरियानी स्टेशन भेजने की व्यवस्था हुई। मुझे उस ट्रक को स्टेशन तक सुरक्षित पहुँचा देने का काम सौंपा गया।

'ट्रक मे मंडली की छहों लडकियां और साजिन्दे वगैरह बैठ गये, तो मैंने ड्राइवर को चलने को कहा। गाडी से उठी हुई धूल को बैठ जाने के लिए कुछ समय दे कर मैं भी जीप मे क्लब से बाहर निकला। कुछ दूर तो बजरी की सडक थी, उस के बाद जब पक्की तारकोल की सडक आयी और धूल बन्द हो गयी तो मैंने तेज बढ कर ट्रक को पकड लेने की सोची। कुछ देर बाद सामने ट्रक की पीठ दीखी पर उसकी ओर देखते ही मैं कांप गया।"

'क्यो, क्या बात हुई?"

'मैंने देखा, ट्रक की छत तक बाहें फैलाये और पीठ की तख्ती के ऊपरी सिरे को दांतो से पकडे हुए एक आदमी लटक रहा था। तनिक और पास आ कर देखा, एक वावर्दी गोरा था। उसके पैर किसी चीज पर टिके नहीं थे, यूं यों ही लटक रहे थे। क्षण भर तो मैं अनिश्चित सा चलता ही

रहा कि क्या दाँतो और नाखूनो की पकड इतनी मज़बूत हो सकती है। फिर मैंने लपक कर जीप उस ट्रक के बराबर कर के ड्राइवर को रुक जाने को कहा।"

"फिर ?"

"ट्रक रुका तो हमने उस आदमी को नीचे उतारा। उसके हाथो को पकड इतनी सख्त थी कि हमने उसे उतार लिया तब भी उस की उँगलियाँ सीधी नही हुईं—वे जकडी-जकडी ही ऐंठ गयी थी! और गोरा नीचे उतरते ही ज़मीन पर ही ढेर हो गया।"

"जरूर पिये हुए होगा—"

"हाँ—एकदम धुत्! आँखो की पुतलियाँ बिल्कुल विस्फारित हो रही थी, वह भौचक्का-सा बैठा था। मैंने डपट कर उठाया तो लड़खड़ा कर खडा हो गया। मैंने पूछा 'तुम ट्रक के पीछे क्यो लटके हुए थे?' तो बोला 'शर, मैं लिफ्ट चाहता हूँ?' मैंने कहा, 'लिफ्ट का यह कोई ढग है? चलो, मेरी जीप में चलो, मैं पहुँचा दूँगा। कहाँ जाना है तुम्हे?' इस का उसने कोई उत्तर नही दिया। हम लोग जीप में घुसे, वह लडखडाता हुआ चढा और पीछे सीटो के बीच मे फर्श पर धप से बैठ गया।

"हम चल पडे। हठात् उसने पूछा, 'शर, आप स्काच हैं?' मैंने लक्ष्य किया कि नशे में वह यह नही पहचान सकता कि मैं भारतीय हूँ या अगरेज़, पर इतना पहचानता है कि मै अफसर हूँ और 'सर' कहना चाहिये। फौजी ट्रेनिंग भी बडी चीज़ है जो नशे की तह को भी भेद जाती है! खैर। मैंने कहा, 'नही, मैं स्कॉच नही हूँ।'

"वह जैसे अपने से ही बोला, 'डैम फाइन व्हिस्की।' और ज़बान चटखारने लगा। मैं पहले तो समझा नही, फिर अनुमान किया कि स्काच शब्द से उसका मदसिक्त मन केवल व्हिस्की का ही सम्बन्ध जोड़ सकता है तब मैंने कहा, 'हाँ। लेकिन तुम जाओगे कहाँ?"

' बोला, 'मुझे यहीं कहीं उतार दीजिये—जहाँ कहीं कोई नेटिव गाँव

पास हो।' मैंने डपट कर कहा, 'क्यों, क्या मंशा है तुम्हारा ?' तब उस का स्वर अचानक रहस्य-भरा हो आया, और वह बोला, 'सच बताऊँ सर, मुझे औरत चाहिये।' मैंने कहा, 'यहाँ कहाँ है औरत ?' तो बोला, 'सर, मैं ढूँढ लूँगा, आप कहीं गाँव-वाँव के पास उतार दीजिये।'"

"फिर तुमने क्या किया ?"

"मेरे जी में तो आयी कि दो थप्पड़ लगाऊँ। पर सच कहूँ तो उस के 'मुझे औरत चाहिये' के निर्व्याज कथन ने ही मुझे निरस्त्र कर दिया—मुझे भी लगा कि इस जन्तुत्व के स्तर पर मानव ताडनीय नहीं, दयनीय है। मैंने तीन-चार मील आगे सडक पर उसे उतार दिया—जहाँ आस-पास कहीं गाँव का नाम-निशान न हो और लौट जाना भी ज़रा मेहनत का काम हो। अब तक कई बार सोचता हूँ कि मैंने उचित किया या नहीं—"

"ठीक ही किया—और क्या कर सकते थे ? दंड देना कोई इलाज न होता। मैं तो मानता हूँ कि जन्तु के साथ जन्तु तर्क ही मानवता है, क्योंकि वही करुण है, और न्याय, अनुशासन, ये सब अन्याय हैं जो उस जन्तुत्व को पाशविकता ही बना देंगे।"

हम लोग फिर बहुत देर तक चुप रहे। नाकाचारी चार-आली पार कर के हमने मरियानी की सडक पकड़ ली थी, कच्ची यह भी थी पर उतनी खराब नहीं, और हम पीछे धूल के बादल उडाते हुए ज़रा तेज़ चल रहे थे। अचानक मेजर चौधरी मानो स्वगत कहने लगे, "और मैं मनुष्य हूँ। मैं नहीं सोच सकता कि 'यह मेरी है' या कि 'मुझे औरत चाहिये।' मैं छुट्टी पर घर जा रहा हूँ—कम्पैशनेट छुट्टी पर। कम्पैशन यानी रहम—मुझ पर रहम किया गया है, क्योंकि मैं उन गोरे की तरह ज़िद नहीं कर सकता कि मैं किसी के बराबर होना चाहता हूँ। नहीं, रहम तो कर सकता हूँ, पर मनुष्य हूँ, और मैं वापस जा रहा हूँ घर। घर!"

मैं चुपचाप आगे सामने दौडाये स्टेशन-वैगन चलाता रहा और

मनाता रहा कि मेजर का वह अजीब स्वर मे उच्चारित शब्द, 'घर !' गाडी की घर्र-घर्र मे लीन हो जाय, उसे सुनने सुन कर स्वीकारने की बाध्यता न हो।

उन्होंने फिर कहा, "एक बार मै ट्रेन से आ रहा था तो उसी कम्पार्टमेंट मे छुट्टी से लौटता हुआ एक पजाबी सूबेदार-मेजर अपने एक साथी को अपनी छुट्टी का अनुभव सुना रहा था। 'मै ध्यान तो नही दे रहा था पर अचानक एक बात मेरी चेतना पर अंक गयी और उस की स्मृति बनी रह गयी। सूबेदार-मेजर कह रहा था, 'छुट्टी मिलती नही थी कुल दस दिन की मजूर हुई तो घरवाली को तारीखे लिखीं, पर उस का तार आया कि छुट्टी और पन्द्रह दिन बाद लेना। मुझे पहले तो सदमा पहुंचा पर उसने चिट्ठी में लिखा था कि दस दिन की छुट्टी मे तीन तो आने-जाने के, बाकी छ दिन मे मे मै नही चाहती कि तीन यो ही जाया हो जाय !' और इस-पर उस के साथी ने दबी ईर्ष्या के साथ कहा था 'तकदीर वाले हो भाई ' "

मैंने कहा, "युद्ध मे इनसान का गुण-दोष सब चरम रूप लेकर प्रकट होता है। मुश्किल यही है कि गुण प्रकट होते है तो मृत्यु के मग्ग म ले जाते है, दोष सुरक्षित लौटा लाते है ! युद्ध के खिलाफ यह कम बडी दलील नही है —प्रत्येक युद्ध के बाद इनसान चारित्रिक दृष्टि मे और गरीब होकर लौटता है।"

"यद्यपि कहते है कि तीव्र अनुभव चरित्र को पुष्ट करता है—"

"हां, लेकिन जो पुष्ट होते है वे लौटते कहां है ?" कहते-कहते मैंने जीभ काट ली, पर बात मुंह से निकल गयी थी।

मेजर चौधरी की पलकें एक बार सकुच कर फैल गयी, जैसे नश्तर के नीचे कोई अग होने पर। उन्होंने सँभल कर बैठा हुए कहा, 'थैंक यू, कैप्टेन पधान ! हम लोग मग्यिानी के पास आ गये—मुझे स्टेशन उतारते जाना, तुम्हारे डिपो जाकर क्या करूंगा—"

गियर मे गाडी मैंने स्टेशन की ओर मोड दी।

जय-दोल

लेफ्टिनेंट सागर ने अपना कीचड से सना चमड़े का दस्ताना उतार कर, ट्रक के दरवाज़े पर पटकते हुए कहा, "गुरुंग, तुम गाडी के साथ ठहरो, हम कुछ बन्दोबस्त करेगा।"

गुरुंग तड़ाक् से जूतों की एड़ियाँ चटका कर बोला, "ठीक ए सा'ब!"

साँझ हो रही थी। तीन दिन मूसलाधार बारिश के कारण नव-गाँव में रुके रहने के बाद, दोपहर को थोड़ी देर के लिए आकाश खुला तो लेफ्टिनेंट सागर ने और देर करना ठीक न समझा। ठीक क्या न समझा आगे जाने के लिए वह इतना उतावला हो रहा था कि उसने लोगों की चेतावनी को अनावश्यक सावधानी माना, और यह सोच कर कि वह कम से कम शिवसागर तो जा ही रहेगा रात तक, वह चल पड़ा था। जोरहाट पहुँचने तक ही शाम हो गयी थी, पर उसे शिवसागर के मन्दिर देखने का इतना चाव था कि वह रुका नहीं, जल्दी में चाय पी कर आगे चल पड़ा। रात जोरहाट में रहे तो सवेरे चल कर सीधे डिब्रूगढ़ जाना होगा, रात शिवसागर में रह कर सवेरे वह मन्दिर और ताल को देख सकेगा। शिवसागर, रुद्रसागर, जयसागर कैसे सुन्दर नाम हैं। सागर कहलाते हैं तो बड़े-बड़े ताल होंगे और प्रत्येक के किनारे पर बना हुआ मन्दिर कितना सुन्दर दीखता होगा। असमिया लोग हैं भी बड़े साफ़-सुथरे, उन के गाँव इतने स्वच्छ होते हैं तो मन्दिरों का क्या कहना। शिव-दोल, रुद्र-दोल, जय-दोल सागर-तट के मन्दिर को दोल कहना कैसी सुन्दर कवि-कल्पना है। सचमुच जब ताल के जल में, मन्द-मन्द हवा से सिहरती चाँदनी में, मन्दिर की कुहासे-सी परछाईं डोलती होगी तब मन्दिर सचमुच सुन्दर हिंडोले-सा दीखता होगा। इसी उत्साह को लिये वह बढ़ता जा रहा था। तीस-पैंतीस मील का क्या है घंटे भर की बात है

भी तीन चार मील तो होंगे और क्या जाने कोई वस्ती भी होगी कि नहीं, और जय-सागर तो बड़े बीहड़ मैदान के बीच में है उसने पढ़ा था कि उस मैदान के बीच में ही रानी जयमती को यन्त्रणा दी गयी थी कि वह अपने पति का पता बता दे। पाँच लाख आदमी उसे देखने इकट्ठे हुए थे, और कई दिनों तक रानी को सारी जनता के सामने सताया और अपमानित किया गया था।

एक बात हो सकती है कि पैदल ही शिवसागर चला जाय। पर इस कीचड़ में फिच्च-फिच्च सात मील! उसी में भोर हो जायेगा, फिर गुरुत गाड़ी के लिए वापस जाना पड़ेगा फिर नहीं, वह बेकार है। दूसरी सूरत रात गाड़ी में ही सोया जा सकता है। पर गुरुग? वह भूखा ही होगा कच्ची रसद तो होगी पर बनायेगा कैसे? सागर ने तो गहरा नाश्ता किया था, उस के पास बिस्कुट वगैरह भी है पर अफ़सरी का बड़ा कायदा है कि अपने मातहत को कम से कम खाना तो जब खिलाये शायद आस-पास कोई गाँव हो—

कीचड़ में कुछ पता न लगता था कि सड़क कितनी है और अगल-बगल का मैदान कितना। पहले तो दो-चार पेड़ भी किनारे-किनारे थे, पर अब वह भी नहीं दोनों ओर सपाट सूना मैदान था, और दूर के पेड़ भी ऐसे धुँधले हो गये थे कि भ्रम हो, कहीं चश्मे पर नमी का ही कमाल तो नहीं है अब रास्ता जानने का एक ही तरीक़ा था, जहाँ कीचड़ कम गहरा हो वही सड़क, इधर-उधर हटते ही पिंडलियाँ तक पानी में डूब जाती थीं और तब वह फिर धीरे-धीरे पैर से टटोल कर मध्य में आ जाता था

यह क्या है? हाँ, पुल-सा है—यह रेलिंग है। मगर दो पुल हैं समकोण बनाते हुए क्या दो रास्ते हैं? कौन-सा पकड़?

एक कुछ ऊँची ज़मीन की ओर जाता जान पड़ता था। ऊँचे पर कीचड़ कम होगा, इस बात का ही आकर्षण काफ़ी था, फिर ऊँचाई पर से शायद कुछ दीख भी जाये। सागर उधर ही को चल पड़ा। पुल के

लेकिन सात-एक मील बाकी थे कि गाड़ी कच्ची सड़क के कीचड़ में फँस गयी, पहले तो स्टीयरिंग ऐसा मक्खन-सा नरम चला, मानो गाड़ी नही नाव की पतवार हो, और नाव बड़े से भँवर मे हचकोले खाती झूम रही हो, फिर लेफ्टिनेंट के सँभालते-सँभालते गाड़ी धीमी हो कर रुक गयी, यद्यपि पहियो के घूमते रह कर कीचड़ उछालने की आवाज़ आती रही

इस के लिए साधारणत तैयार होकर ही ट्रक चलते थे। तुरन्त बेलचा निकाला गया, कीचड़ साफ करने की कोशिश हुई, लेकिन कीचड़ गहरा और पतला था, बेलचे का नही पम्प का काम था। फिर टायरो पर लोहे की जजीरें चढायी गयी। पहिये घूमने पर कही पकड़ने को कुछ मिले तो गाड़ी आग ठिले—मगर चलाने की कोशिश पर लीक गहरी कटती गयी और ट्रक धँसता गया, यहाँ तक कि नीचे का गीयर-बक्स भी कीचड़ में डूबने को हो गया मानो इतना काफी न हो, तभी इजन ने दो-चार बार फट्-फट्-फटर का शब्द किया और चुप हो गया फिर स्टार्ट ही न हुआ

अँधेरे में गुरुग का मुँह नही दीखता था, और लेफ्टिनेंट ने मन ही मन सतोप किया कि गुरुग को उस का मुँह भी नही दीखता होगा गुरु गोरखा था और फौजी गोरखो की भाषा कम से कम भावना की दृष्टि से गूगी होती है मगर आँखें या चहरे की झुर्रियाँ सब समय गूगी नहीं होती और इस समय अगर उनमें लेफ्टिनेंट सा'ब की भावुक उतावली पर विनोद का आभास भी दीख गया, तो दोनो में मूक वैमनस्य की एक दीवार खड़ी हो जायेगी

तभी सागर ने दस्ताने फेंक कर कहा, "हम कुछ बन्दोबस्त करेगा," और फिच्च-फिच्च कीचड़ मे जमा-जमा कर बूट रखता हुआ आगे बढ़ चला।

कहने को तो उसने कह दिया, पर बन्दोबस्त वह क्या करेगा रात में? बादल फिर घिरनें लगे, शिवसागर सात मील है तो दूसरे साग

पार ही सडक एक ऊँची उठी हुई पटरी-सी वन गयी, तनिक आगे इस में कई मोड से आये, फिर जैसे धन-खेतो में कही-कही कई-एक छोटे-छोटे खत एक-साथ पडने पर उन की मेड मानो एक-साथ ही कई ओर जाती जान पडती है, इसी तरह वह पटरी भी कई ओर को जाती-सी जान पडी। सागर मानो एक विन्दु पर खडा है जहाँ से कई ओर कई रास्ते है, प्रत्येक के दोनो ओर जल मानो अथाह समुद्र में पटरियाँ विछा दी गयी हो

सागर ने एक वार चारो ओर नज़र दौडायी। शून्य। उसने फिर आँखो की कोरें कस कर झाँक कर देखा, वादलो की रेखा में एक कुछ अधिक घनी-सी रेखा उसे दीखी वादल ऐसा समकोण नही हो सकता। नही, यह इमारत है सागर उसी ओर को वढने लगा। रोशनी नही दीखती, पर शायद भीतर कोई हो—

पर ज्यो-ज्यो वह निकट जाता गया उस की आशा धुंधली पडती गयी। वह असमिया घर नही हो सकता—इतने वडे घर अव कहाँ है—फिर यहाँ, जहाँ वाँस और फूस के वासे ही हो सकते है, ईंट के घर नही—अरे यह तो कोई वडी इमारत है—क्या हो सकती है ?

मानो उस के प्रश्न के उत्तर में ही सहसा आकाश में वादल कुछ फीका पडा और सहसा धुंधला-सा चाँद भी झलक गया। उस के अधूरे प्रकाश में सागर ने देखा—एक वडी-सी, ऊपर से चपटी-सी इमारत—मानो दुमंज़िली वारादरी वरामदे से, जिस में कई-एक महरावें, एक के बीच से मानो आकाश झाँक दिया

सागर ठिठक कर क्षण भर उसे देखता रहा। सहसा उसके भीतर कुछ जागा जिसने इमारत को पहचान लिया—यह तो अहोम राजाओ का क्रीडा-भवन है—क्या नाम है ?—रग-महल, नही, हवा-महल—नही, ठीक याद नही आता, पर यह उस वडे पठार के किनारे पर है जिसमें जयमती—

एकाएक हवा सनसना उठी। आस-पास के पानी में जहाँ-तहाँ नर-

नल के झोप थे, झुक कर फुसफुसा उठे, जैसे राजा के आने पर भृत्यो-सेवको में एक सिहरन दौड जाय एकाएक यह लक्ष्य कर के कि चाँद फिर छिपा जा रहा है, सागर ने घूम कर चीन्ह लेना चाहा कि ट्रक किधर कितनी दूर है, पर वह अभी यह भी तय नही कर सका था कि कहाँ क्षितिज है जिस के नीचे पठार है और ऊपर आकाश या मेघाली, कि चाँद छिप गया, और अगर उसने खूब अच्छी तरह आकार पहचान न रखा होता तो रग-महल या हवा-महल भी खो जाता

महल में छत होगी। वहाँ सूखा होगा। वहाँ आग भी जल सकती है। शायद बिस्तर लाकर सोया भी जा सकता है। ट्रक ने तो यही अच्छा रहेगा—गाडी को तो कोई खतरा नही—

सागर जल्दी-जल्दी आगे बढने लगा।

रग-महल बहुत बडा हो गया था। उस की कुरसी ही इतनी ऊँची थी कि असमिया घर उस की ओट छिप जाये। पक्के फर्श पर पैर पडते ही सागर ने अनुमान किया, तीस-पैंतीस सीढियाँ होगी सीढियाँ चढ कर वह असली ड्योढी तक पहुँचेगा।

ऊपर चढते-चढते हवा चीख उठी। कई मेहराबो से मानो उसने गुर्रा कर कहा, "कौन हो तुम, इतनी रात गये मेरा एकान्त भग करने वाले ?" विरोध के फूत्कार का यह थपेडा इतना सच्चा था कि सागर मानो फुसफुसा ही उठा, "मैं—सागर, आसरा ढूँढता हूँ—रैनबसेरा—"

पोपले मुँह या बूढा जैसे खिखिया कर हँसे, वैसे ही हवा हँस उठी। 'ही—ही—ही—खी—खी—खी। यह हवा-महल है, हवा-महल—अहोम राजा का लीलागार—अहोम राजा का—व्यसनी, विलासी, छहो इन्द्रियो से जीवन की लिसडी बोटी से छहो रसो को चूस कर उसे झँझोड कर फेंक देने वाले नृशस लीलापिशाचो की—यहाँ आसरा—यहाँ बसेरा ही—ही—ही—खी—खी खी !'

सीढियो की चोटी से मेहराबो के तले खडे सागर ने नीचे और बाहर की ओर देखा। शून्य, महाशून्य, बादलो से, बादलो में बनी नमी और

ज्वाला से, प्लवन, वज्र और विजली से भरा हुआ शून्य ! क्या उसी की गुर्राहट हवा में है, या कि नीचे फैले नगे पठार की, जिस के चूतडो पर दिन भर सड-मड पानी के कोडो की बौछार पडती रही है ? उसी पठार का आक्रोश, सिसकन, रिरियाहट ?

इसी जगह, इसी मेहराब के नीचे खडे कभी अधनगे अहोम राजा ने अपने गठीले शरीर को दर्प से अकडा कर, सितार की खूंटो की तरह उमेठ कर, वायें हाथ के अगूठे को कमरवन्द में अटका कर, सीढियो पर खडे क्षत-शरीर राजकुमारो को देखा होगा, जैसे कोई साँड खसिया बैलो के भुंड को देखे, फिर दाहिने हाथ की तर्जनी को उठा कर दाहिने भ्रू को तनिक-सा कुचित कर के, सकेत से आदेश किया होगा कि यन्त्रणा को और कडी होने दो ।

लेफ्टिनेंट सागर की टाँगें मानो शिथिल हो गयी। वह सीढी पर वैठ गया, पैर उसने नीचे को लटका दिये, पीठ मेहराब के निचले हिस्से से टेक दी । उसका शरीर थक गया था दिन भर स्टीयरिंग पर वैठे-वैठे और पौने दो सौ मील तक वनी कीचड की सडक मे वनी लीको पर आखें जमाये रहने से आंखें भी ऐसे चुनचुना रही थी मानो उनमें वहुत वारीक पिसी हुई रेत डाल दी गयी हो—आंखें वन्द भी वह करना चाहे और वन्द करने में क्लेश भी हो—वह आँख खुली रख कर ही किसी तरह दीठ को समेट ले, या वन्द करके देखता रह सके, तो

अहोम राजा चूलिक-फा राजा में ईश्वर का अश होता है, ऐसे अन्धविश्वास पालने वाली अहोम जाति के लिए यह मानना स्वाभाविक ही था कि राजकुल का अक्षत शरीर व्यक्ति ही राजा हो सकता है, जिस के शरीर में कोई क्षत है, उसमें देवत्व का अश कैसे रह सकता है ? देवत्व—और क्षुण्ण ? नही। ईश्वरत्व अक्षुण्ण ही हो होता है, और राज-शरीर अक्षत

अहोम परम्परा के अनुसार कुल-घात के सेतु से पार होकर चूलिक-फा भी राजसिंहासन पर पहुँचा । लेकिन वह सेतु सदा के लिए खुला रहे,

इस के लिए उसने एक अत्यन्त नृशंस उपाय सोचा। अक्षत-शरीर राजकुमार ही राजा हो सकते हैं, अत सारे अक्षत-शरीर राजकुमार उस के प्रतिस्पर्धी और सम्भाव्य घातक हो सकते हैं। इन के निराकरण का उपाय यह है कि सब का एक-एक कान या छिगुनी कटवा ली जाय—हत्या भी न करनी पड़े, मार्ग के रोड़े भी हट जायें। लाठी न टूटे साँप भी मरे नहीं पर उसके विषदन्त उखड़ जायें। क्षत-शरीर कनकटे या छिगुनी-कटे राजकुमार राजा हो ही नहीं सकेंगे, तब उन्हें राज-स्थान का लोभ भी न सतायेगा।

चूलिक-फा ने सेनापति को बुलाकर गुप्त आज्ञा दी कि रात में चुपचाप राज-कुल के प्रत्येक व्यक्ति के कान (या छिगुनी) काट कर प्रातःकाल दरबार में राज-चरणों में अर्पित किये जायें।

और प्रातःकाल यहीं, राज-महल की सीढ़ियों पर उस के चरणों में यह वीभत्स उपहार चढ़ाया गया होगा—और उस ने उसी दर्प-भरी अवज्ञा से, ओठों की तार-सी तनी पतली रेखा को तनिक मोड़-सी देकर, शब्द किया होगा, 'हूँ' और रक्तसने थाल को पैर से तनिक-सा ठुकरा दिया होगा!

चूलिक-फा—निष्कंटक राजा! लेकिन नहीं, यह तीर-सा कैसा सालता गया? एक राजकुमार भाग गया—अक्षत।

लेफ्टिनेंट सागर मानो चूलिक-फा के चीत्कार को स्पष्ट सुन सका। अक्षत! भाग गया?

वहाँ सामने—लेफ्टिनेंट ने फिर आँखों को कस कर बन्द किया, [illegible] को भेदने की कोशिश की—वहाँ सामने कहीं नागा पर्वत-श्रेणी है। दुर्दान्त वीर नागा जातियों से अहोम राजाओं की कभी नहीं बनी—वे अपने पर्वतों के राजा थे, ये अपनी समतल भूमि के [illegible] पहाड़ पर भी [illegible] रहने वाले महाराजा, पीढ़ियों के युद्ध के बाद मानो न अपनी-अपनी सीमायें बाँध ली थीं और कोई किसी से छेड़-छाड़ नहीं करता था—केवल सीमा-प्रदेश पर पड़ने वाली नमक की झीलों के लिए

से लथपथ, लेकिन शेषनाग के माथे मे ठुकी हुई कीली की भाँति अडिग, आकाश को छूने वाली प्रात शिखा-सी निष्कम्प

लेकिन यह क्या ? सागर तिलमिला कर उठ बैठा। मानो अँधेरे में भुतही-सी दीख पडने वाली वह लाखो की भीड भी काँप कर फि जड हो गयी—जयमती के गले से एक बडी तीखी करुण चीख निकल कर भारी वायु-मडल को भेद गयी—जैसे किसी थुलथुल कछुए के पेट को मछेरे की वर्छी सागर ने बड जोर मे मुट्ठियाँ भीच ली क्या जयमती टूट गयी ? नही, यह नही हो सकता, नरसलो की तरह बिना रीढ के गिरती-पडती इस लाख जनता के बीच वही तो देवदारु-सी तनी खडी है, मानवता की ज्योति शलाका

सहसा उसके पीछे से एक दृप्त, रूखी, अवज्ञा-भरी हँसी से पीतल की तरह झनझनाते स्वर ने कहा, "मैं राजा हूँ !'

सागर ने चौक कर मुड कर देखा सुनहला रेशमी वस्त्र, रेशमी उत्तरीय, सोने की कठी और बडे-बडे अनगढ पन्नो की माला पहने भी अधनगा एक व्यक्ति उस की ओर ऐसी दया-भरी अवज्ञा से देख रहा था, जैसे कोई राह किनारे के कृमि-कीट को देखे। उस का सुगठित शरीर, छेनी से तराशी हुई चिकनी मास-पेशियाँ, दर्प-स्फीत नासाएँ, तेल से चमक रही थी, आँखो की कोर में लाली थी जो अपनी अलग बात कहती थी—मैं मद भी हो सकती हूँ, गर्व भी, रोष भी, विलास-लोलुपता भी, और निरी नृशस नर-रक्त-पिपासा भी

सागर टुकुर-टुकुर देखता रह गया। न उठ सका न हिल सका। वह व्यक्ति फिर बोला, "जयमती ? हूँ, जयमती !' ओठ और तर्जनी की चुटकी बना कर उसने झटक दी, मानो हाथ का मैल कोई मसल कर फेंक दे। बिना क्रिया के भी वाक्य सार्थक होता है कम-से राजा का वाक्य

सागर ने कहना चाहा, "नृशस ! राक्षस !" रे ि आँखो की लाली मे एक बाध्य करने वाली प्रेरणा थी, सागर

रहा, मानो सोच रहा हो, इसे क्या वह उत्तर दे ? फिर और भी कुटिल ओठों के बीच से बोला, "मैं, चूलिक-फा, डरपोक ! अभी जानेगा । पर अभी तो मेरे काम की कह रहा है—"

नगा वीर जयमती के और निकट जा कर धीरे-धीरे कुछ कहने लगा । चूलिक-फा ने भी सिकोड़ कर कहा, "क्या फुसफुसा रहा है ?"

सागर ने आगे झुक कर सुन लिया ।

"जयमती, कुमार तो अपने मित्र नगा सन्दार के पास सुरक्षित हैं । चूलिक-फा तो उन्हें पकड़ ही नहीं सकता, तुम पता बता कर अपनी रक्षा क्यों न करो ? देखो, तुम्हारी कोमल देह—"

आवेश में सागर खड़ा हो गया, क्योंकि उस कोमल देह में एक बिजली-सी दौड़ गयी और उसने तन कर, सहसा नगा वीर की ओर उन्मुख होकर कहा, "कायर, नपुंसक—तुम नगा कैसे हुए ? कुमार तो अमर हैं, कीड़ा चूलिक-फा उन्हें कैसे छुयेगा ? मगर क्या लोग कहेंगे, कुमार की रानी जयमती ने देह की यन्त्रणा से घबड़ा कर उस का पता बता दिया ? हट जाओ, अपना कलंकी मुँह मेरे सामने से दूर करो !"

जनता में तीव्र सिहरन दौड़ गयी । तन्त्तल बड़ी ज़ोर से काँप गये, गँदले पानी में एक हलचल उठी जिस के लहराते गोल वृत्त फैल कर फैलते ही गये, हवा फुँफकार उठी, बड़े ज़ोर की गड़गड़ाहट हुई । मेघ और काले हो गये—यह निरी रात है कि महानिशा, कि यन्त्रणा की रात—सातवीं रात, कि नवीं रात ? और जयमती क्या अब बोल भी सकती है, क्या यह उस के दृढ़ संकल्प का मौन है कि अशक्तता का ? और यह वही भीड़ है कि नयी भीड़, वही नगा वीर कि दूसरा कोई कि भीड़ न कई तो दिखते हैं

चूलिक-फा ने घट् स्वर से कहा, 'फिर आया वह नगा ?"

नगा वीर ने पुकार कर कहा 'जयमती ! रानी जयमती !"

रानी हिली डुली नहीं ।

वीर फिर बोला, "रानी मैं उसी नगा सन्दार का दूत हूँ, जिस के यहाँ कुमार ने शरण ली है । मेरी बात सुनो !"

रानी का शरीर काँप गया । वह एकटक आँखों से उसे देखने लगी

छुआ नहीं, जैसे किसी गिलगिली चीज की ओर आँखें चढ़ाने में भी घिन आती है

नगा ने मुस्करा कर कहा, "कहाँ है मेरा राजा !"

चूलिक-फा ने वहीं से पुकार कर कहा, "मैं यह हूँ—अहोम राज्य का एकछत्र शासक !"

नगा युवक सहसा उसके पास चला आया।

सागर ने देखा, भीड़ का रंग बदल गया है। वैसा ही अन्धकार वैसा ही अथाह प्रसार, पर उसमें जैसे कहीं व्यवस्था, भीड़ में जगह-जगह नगा दर्शक बिखरे, पर बिखरेपन में भी एक माप

नगा ने पास से कहा, "मेरे राजा !"

एकाएक बड़े जोर की गड़गड़ाहट हुई। सागर खड़ा हो गया उसने आँखें फाड़ कर देखा, नगा युवक सहसा बर्छी के सहारे एक-एक सीढ़ियाँ फाँद कर चूलिक-फा के पास पहुँच गया है, बर्छी सीढ़ी की ईंटों की दरार में फँसी रह गयी है, पर नगा चूलिक-फा को धक्के से गिरा कर उस की छाती पर चढ़ गया है, उधर जनता में एक बिजली कड़क गयी है, "कुमार की जय !" किसी ने फाँद कर मंच पर चढ़ कर कोड़ा लिये जल्लादों को गिरा दिया है, किसी ने अपना अंग-वस्त्र जयमती पर डाला है और कोई उसके बन्धन की रस्सी टटोल रहा है

पर चूलिक-फा और नगा सागर मन्त्र-मुग्ध-सा खड़ा था, उस की दीठ चूलिक-फा पर जमी थी सहसा उसने देखा, नगा तो निहत्था है, पर नीचे पड़े चूलिक-फा के हाथ में एक चन्द्राकार डाओ है जो वह नगा के कान के पीछे साध रहा है—नगा को ध्यान नहीं है मगर चूलिक-फा की आँखों में पहचान है कि नगा और कोई नहीं, स्वयं कुमार है, और वह डाओ साध रहा है

कुमार छाती पर है, पर मर जायगा या क्षत भी हो गया तो चूलिक-फा ही मर गया तो भी अगर कुमार क्षत हो गया तो—सागर उछला। वह चूलिक-फा का हाथ पकड़ लेगा डाओ छीन लेगा।

पर वह असावधानी से उछला था, उस का कीचड़-सना बूट सीढ़ी पर फिसल गया और वह लुढ़कता-पुढ़कता नीचे जा गिरा।